उपासना के दो चरण जप और ध्यान

– श्रीराम शर्मा आचार्य

उपासना के दो चरण
जप और ध्यान

लेखक :
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : ७.०० रुपये

जप योग की विधि–व्यवस्था

प्रतीक उपासना की पार्थिव पूजा के कितने ही कर्मकाण्डों का प्रचलन है । तीर्थयात्रा, देवदर्शन, स्तवन, पाठ, षोडशोपचार, परिक्रमा, अभिषेक, शोभायात्रा, श्रद्धाञ्जलि, रात्रि–जागरण, कीर्तन आदि अनेकों विधियाँ विभिन्न क्षेत्रों और वर्गों में अपने–अपने ढंग से विनिर्मित और प्रचलित हैं । इससे आगे का अगला स्तर वह है, जिसमें उपकरणों का प्रयोग न्यूनतम होता है और अधिकांश कृत्य मानसिक एवं भावनात्मक रूप से ही सम्पन्न करना पड़ता है । यों शारीरिक हलचलों, श्रम और प्रक्रियाओं का समन्वय उनमें भी रहता ही है ।

उच्चस्तरीय साधना क्रम में मध्यवर्ती विधान के अन्तर्गत प्रधानतया दो कृत्य आते हैं । (१) जप (२) ध्यान । न केवल भारतीय परम्परा में वरन् समस्त विश्व के विभिन्न साधना प्रचलनों में भी किसी न किसी रूप में इन्हीं दो का सहारा लिया गया है । प्रकार कई हो सकते हैं, पर उन्हें इन दो वर्गों के ही अंग–प्रत्यंग के रूप में देखा जा सकता है ।

साधना की अन्तिम स्थिति में शारीरिक या मानसिक कोई कृत्य करना शेष नहीं रहता । मात्र अनुभूति, संवेदना, भावना तथा संकल्प शक्ति के सहारे विचार रहित शून्यावस्था प्राप्त की जाती है । इसी को समाधि अथवा तुरीयावस्था कहते हैं । ब्रह्मानन्द का परमानन्द का अनुभव इसी स्थिति में होता है । इसे ईश्वर और जीव के मिलन की चरम अनुभूति कह सकते हैं । इस स्थान पर पहुँचने से ईश्वर प्राप्ति का जीवन लक्ष्य पूरा हो जाता है । यह स्तर समयानुसार आत्म–विकास का क्रम पूरा करते चलने से ही उपलब्ध होता है । उतावली में काम बनता नहीं बिगड़ता है । तुर्त–फुर्त ईश्वर दर्शन, समाधि स्थिति, कुण्डलिनी जागरण, शक्तिपात जैसी आतुरता से बाल बुद्धि का परिचय भर दिया जा सकता है । प्रयोजन कुछ सिद्ध नहीं

होता । शरीर को सत्कर्मों में और मन को सद्विचारों में ही अपनाये रहने से जीव सत्ता का उतना परिष्कार हो सकता है, जिससे वह स्थूल और सूक्ष्म शरीरों को समुन्नत बनाते हुए कारण शरीर के उत्कर्ष से संबद्ध दिव्य अनुभूतियाँ और दिव्य सिद्धियाँ प्राप्त कर सके ।

समयानुसार उस अन्तिम स्थिति की, कालेज पाठ्यक्रम की भी, शिक्षा उपलब्ध हो जाती है । ऐसी दिव्य सत्तायें इस संसार में मौजूद हैं जो पात्रता के तालाब को बादलों की तरह बरस कर सदा भरा–पूरा रखने को अयाचित सहायता प्रदान कर सकें । हमें शरीर के जड़ और मन के अर्द्ध चेतन स्तरों को परिष्कृत बनाने में ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित करना चाहिए । साधना विज्ञानकी दौड़ इन्हीं दो क्षेत्रों के विकास में सहायता करने वाले विधि–विधान बताने में केन्द्रीभूत है । इतना बन पड़े तो अगली बात निखिल ब्रह्माण्ड में संव्याप्त दिव्य चेतना के प्रत्यक्ष मार्ग दर्शन पर छोड़ी जा सकती है । अपना आपा ही इतना ऊँचा उठ जाता है कि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से ऊपर निकल जाने के बाद राकेट जिस प्रकार अपनी यात्रा करने लगते हैं, उसी प्रकार स्वयमेव आत्म साधन का शेष भाग पूरा हो जाता है ।

आत्मोत्कर्ष की जिन कक्षाओं का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पाठ्यक्रम सीखने, सिखाने की आवश्यकता पड़ती है । वे चिन्तन की उत्कृष्टता एवं कर्तृत्व की आदर्शवादिता के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं । उनकी उपेक्षा करके मात्र कर्मकाण्डों के सहारे कोई बड़ी सफलता हाथ नहीं लग सकती । व्यक्तित्व को अमुक विधि–विधानों के सहारे ऊँचा उठाने की शिक्षा की किन्डरगार्डन शिक्षण में प्रयुक्त होने वाले मनोरंजन उपकरणों से तुलना की जा सकती है, जो बच्चे के अविकसित मस्तिष्क में अमुक जानकारी को ठीक तरह जमाने में सहायता करती है । पहलवानी में सफलता पाने वाले डंबल, मुद्गर आदि उपकरणों का सहारा लेकर अपनी बल वृद्धि करते हैं । ऊँचा चढ़ने के लिए लाठी की और जल्दी पहुँचने के लिए वाहन की आवश्यकता पड़ती है । यह उपंकरण बहुत ही उपययोगी और आवश्यक हैं, पर यह ध्यान रखना चाहिए कि स्वतंत्र रूप से कोई जादुई शक्ति से सम्पन्न नहीं हैं । स्वस्थ शरीर को

बलिष्ठ बनाने में वे सहायता भर करते हैं । ठीक यही स्थिति उपासना क्षेत्र में फैले हुए अनेकानेक कर्मकाण्डों की है ।

जप द्वारा अध्यात्म ही उस परमेश्वर को पुकारता है, जिसे हम एक प्रकार से भूल ही चुके हैं । मणि विहीन सर्प जिस तरह अशक्त एवं हताश बना बैठा रहता है, उसी प्रकार हम परमात्मा से बिछुड़कर अनाथ बालक की तरह डरे, सहमे बैठे हैं—अपने को असुरक्षित और आपत्तिग्रस्त स्थिति में अनुभव कर रहे हैं । लगता है हमारा कुछ बहुमूल्य खो गया है । जप की पुकार उसी को खोजने के लिए है । बिल्ली अपने बच्चों के इधर-उधर छिप जाने पर उन्हें ढूँढ़ने के लिए म्याऊँ-म्याऊँ करती फिरती है और उस पुकार के आधार पर उन्हें खोज निकालती है । कोई बालक खो जाने पर उसको ढूँढ़ने के लिए नाम और हुलिया की मुनादी कराई जाती है । रामनाम की रट इसी प्रयोजन के लिए है ।

गज की एक टाँग ग्राह के मुँह में चली गई थी । गज पानी से बाहर निकलना चाहता था और ग्राह उसे भीतर घसीटता था । दोनों में से हारता भी कोई नहीं था । इस खींचतान में हाथी को भारी कष्ट हो रहा था । न मरते बनता था न जीते । निदान गज ने भगवान को पुकार लगाई । उनका नाम हजार बार लिया तब भगवान उसे बचाने आये थे । द्रौपदी ने भरी सभा में लाज जाते देखकर भगवान को पुकारा था और वे उसे आश्वस्त करने आये थे । अज्ञानान्धकार में भटकने वाले जीव की स्थिति गज से भी गई-बीती है । गज की एक टाँग को एक मगर खा रहा था । यहाँ काम, क्रोध, मद, मत्सर रूपी चार ग्राह दोनों हाथ और दोनों पैर, सिर, धड़ इन छहों को खाये जा रहे हैं ।

द्रौपदी का शरीर ही निर्वसन हो रहा था, पर आत्मा की शालीनता का आवरण उतरता जाने से उसका बहिरंग और अन्तरंग दोनों ही लज्जास्पद बनते चले जा रहे हैं । ऐसी दशा में गज रूपी मन और आत्मा रूपी द्रौपदी का भगवान को पुकारना उचित ही है । जप में भगवत नाम की रट पतन के गर्त में से हाथ पकड़ कर ऊपर उबारने के लिए ही लगाई जाती है ।

परमात्मा की दिव्य चेतना के अभाव में मनुष्य नर-पशु,

नर–कीटक मात्र बनकर रह जाता है । पञ्चतत्वों की काया में पेट और प्रजनन मात्र की दो आकांक्षायें रहती हैं और वह उनकी पूर्ति के लिए वासना–तृष्णाा में ग्रसित रह कर अचिन्त्य चिन्तन तथा अकर्म करने में निरत रहता है । आदर्शों को अपनाने के लिए न उसकी उत्कण्ठा जगती है और न चेष्टा ही होती है । सड़ी कीचड़ में कुलबुलाते रहने वाले घिनौने कीड़ों की तरह उसे कुत्साओं और कुण्ठाओं की, शोक संतापों की प्रताड़नायें सहन करते हुए इस सुर–दुर्लभ अवसर को रोते कलपते गँवाना पड़ता है । इस अन्धकार में भटकने से त्राण पाने के लिए आत्मा प्रकाश को पुकारती है । यह प्रकाश भगवान ही हो सकता है । उसे पाने की आतुरता में जिन शब्दों का उच्चारण होता है, उसे नाम–जप कह सकते हैं ।

यह सोचना व्यर्थ है कि भगवान का मन इतना ओछा है कि वे अपना नाम लेने वाले से–चापलूसी भरे शब्दोचार करने वाले से प्रसन्न हो जाते हैं । उन्हें नाम लेने न लेने से कोई वास्ता नहीं । वह दिव्य सत्ता तो केवल इतना ही देखती है कि जो काम सौंपे गये थे वे पूरे किये गये या नहीं । वे अनुशासन और कर्तव्य पालन भर की अपेक्षा मनुष्य से करते हैं और इसी कसौटी पर कस कर दण्ड, पुरस्कार की व्यवस्था करते हैं । उनका रोष और प्रेम ठीक विद्युत शक्ति की तरह है । बिजली का विधिवत् उपयोग करने वाले उससे तरह–तरह के लाभ उठाते हैं । रोशनी, पंखा, रेडियो, हीटर जैसे अनेक प्रयोजन पूरे करते हैं, किन्तु जो उसके खुले तार छूने की उच्छृंखलता बरतते हैं, वे रोष के भाजन बनते हैं और अपने प्राण गँवा बैठते हैं । भगवान का एक नाम रुद्र भी है । रुद्र अर्थात् भयंकर अनीति बरतने वालों को वे बिना दया माया प्रदर्शित किये कस कर दण्ड भी देते हैं । नाम–जप की चापलूसी से ईश्वर को फुसला लेने और जो लाभ सन्मार्ग पर चलने वालों को मिलता है, वही पूजा–पत्राी से पा लेने की बात सोचना मूर्खतापूर्ण है । ईश्वर को इतना मूर्ख और ओछा नहीं समझा जाना चाहिए कि नाम लेने भर से किसी को भक्त मान ले और निहाल कर दे । उसका अनुग्रह तो व्यक्तित्व को परिष्कृत

करने और सन्मार्ग पर चलने से ही सम्भव हो सकता है । शरीर पर नित्य मैल चढ़ता है और उसे साफ करने के लिए नित्य स्नान करना पड़ता है । कपड़े नित्य मैले होते हैं और उन्हें रोज ही धोना होता है । कमरे में झाड़ू लगाना, दाँत माँजना, बालों में कंघी करना नित्य का काम है। । मन पर नित्य ही वातावरण में उड़ती–फिरने वाली दुष्प्रवृत्तियों की छाप पड़ती है । उस मलीनता को धोने के लिए नित्य ही उपासना करनी पड़ती है । भगवत् स्मरण उपासना का प्रधान अंग है । नाम के आधार पर ही किसी सत्ता का बोध और स्मरण हमें होता है । ईश्वर को स्मृति पटल पर प्रतिष्ठापित करने के लिए उसके नाम का सहारा लेना पड़ता है । स्मरण से आह्वान, आह्वान से स्थापना और स्थापना से उपलब्धि का क्रम चल पड़ना मनोविज्ञान शास्त्र द्वारा समर्थित है ।

चेतना को प्रशिक्षित करने के लिए मनोविज्ञान शास्त्र में चार आधार और स्तर बताये गये हैं । इनमें प्रथम है–शिक्षण, जिसे अंग्रेजी में 'लर्निंग' कहते हैं । स्कूल के बच्चों को इसी स्तर पर पढ़ाया जाता है । उन्हें तरह–तरह की जानकारियाँ दी जाती हैं । उन जानकारियों को सुन लेने भर से काम नहीं चलता । विद्यार्थी उन्हें बार–बार दुहराते हैं । स्कूली पढ़ाई का सारा क्रम ही दुहराने, याद करने के सहारे खड़ा होता है । पहाड़े रटने पड़ते हैं । संस्कृत को रटन्त विद्या ही कहा जाता है । प्रकारान्तर से यह रटाई किसी न किसी प्रकार हर छात्र को करनी पड़ती है । स्मृति पटल पर किसी नई बात को जमाने के लिए बार–बार दुहराये जाने की क्रिया अपनाये बिना और कोई रास्ता नहीं ।

एक बार याद कर लेने से कुछ बातें तो देर तक याद बनी रहती हैं, पर कुछ ऐसी हैं जो थोड़े दिन अभ्यास छोड़ देने से एक प्रकार से विस्मरण ही हो जाती हैं । स्कूली पढ़ाई छोड़ देने के उपरान्त यदि वे विषय काम में न आते रहें तो कुछ समय बाद विस्मृत हो जाते हैं । फौजी सिपाहियों को नित्य ही परेड करनी पड़ती है । पहलवान लोग बिना नागा अखाड़े में जाते और रोज ही

दण्ड-बैठक करते हैं । संगीतकारों के लिए नित्य का 'रियाज' आवश्यक हो जाता है । कुछ समय के लिए भी वे गाने-बजाने का अभ्यास छोड़ दें तो उँगलियाँ लड़खड़ाने लगेंगी और ताल स्वरों में अड़चन उत्पन्न होने लगेगी ।

शिक्षण की 'लर्निंग' भूमिका में पुनरावृत्ति का आश्रय लिया जाना आवश्यक है । जप द्वारा अनभ्यस्त ईश्वरीय चेतना को स्मृति पटल पर जमाने की आवश्यकता होती है ताकि उपयोगी प्रकाश की अन्तःकरण में प्रतिष्ठापना हो सके । कुएँ की जगत में लगे पत्थर पर रस्सी की रगड़ बहुत समय तक पड़ते रहने से उसमें निशान बन जाते हैं । हमारी मनोभूमि भी इतनी ही कठोर है । एक बार कहने से बात समझ में तो आ जाती है, पर उसे स्वभाव की, अभ्यास की भूमिका तक उतारने के लिए बहुत समय तक दुहराने की आवश्यकता पड़ती है । पत्थर पर रस्सी की रगड़ से निशान पड़ने की तरह ही हमारी कठोर मनोभूमि पर भगवत संस्कारों का गहराई तक जम सकना संभव है ।

शिक्षण की दूसरी परत है-'रिटेन्शन' अर्थात् प्रस्तुत जानकारी को स्वभाव का अंग बना लेना । तीसरी भूमिका है-'री काल' अर्थात् भूतकाल की किन्हीं विस्मृत स्थितियों को कुरेद-बीनकर फिर से सजीव कर लेना । चौथी भूमिका है-'रीकाग्नीशन' अर्थात् मान्यता प्रदान कर देना । निष्ठा, आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास में परिणत कर देना । उपासना में इन्हीं सब प्रयोजनों को पूरा करना पड़ता है । यह चारों ही परतें छेड़नी होती हैं । भगवान की समीपता अनुभव कराने वाली प्रतीक पूजा 'रिटेन्शन' है । ईश्वर के साथ आत्मा के अति प्राचीन सम्बन्धों को भूल जाने के कारण ही जीवन में भटकाव होता है । पतंग उड़ाने वाले के हाथ से डोरी छूट जाती है तभी वह इधर-उधर छितराती फिरती है । बाजीगर की उँगलियों से बँधे कठपुतली के सम्बन्ध सूत्र टूट जाँय तो फिर वे लकड़ी के टुकड़े नाच किस प्रकार दिखा सकेंगे । कनेक्शन तार टूट जाने पर बिजली के यंत्र अपना काम करना बन्द कर देते हैं । ईश्वर और जीव का सम्बन्ध सनातन है पर वह माया में अत्यधिक प्रवृत्ति के कारण एक

प्रकार से टूट ही गया है । इसे फिर से जोड़ने की प्रक्रिया 'री-काल' है । जप द्वारा यह उद्देश्य भी पूरा होता है । चौथी भूमिका है-'रीकाग्नीशन' इसमें पहुँचने पर जीवात्मा की मान्यता अपने भीतर ईश्वरीय प्रकाश विद्यमान होने की बनती है और वह वेदान्त तत्वज्ञान की भाषा में 'अयमात्मा ब्रह्म'-'तत्वमसि' सोहमस्मि, चिदानंदोहम्'-शिवोहम की निष्ठा जीवित करता है । यह शब्दोच्चार नहीं वरन् मान्यता का स्तर है, जिसमें पहुँचे हुए मनुष्य का गुण, कर्म, स्वभाव, दृष्टिकोण एवं क्रिया-कलाप ईश्वर जैसे स्तर का बन जाता है । उसकी स्थिति महात्मा, देवात्मा एवं परमात्मा जैसी देखी और अनुभव की जा सकती है ।

आत्मिक प्रगति के लिए चिन्तन क्षेत्र की जुताई करनी पड़ती है, तभी उसमें उपयोगी फसल उगती है । खेत को बार-बार जोतने से ही उसकी उर्वरा शक्ति बढ़ती है । नाम जप को एक प्रकार से खेत की जुताई कह सकते हैं । प्रहलाद की कथा है कि वे स्कूल में प्रवेश पाने के उपरान्त पट्टी पर केवल राम नाम ही लिखते रहे, आगे की बात पढ़ने के लिए कहे जाने पर भी राम नाम ही लिखते रहे और कहते रहे । इस एक को ही पढ़ लेने पर सारी पढ़ाई पूरी हो जाती है । युधिष्ठिर की कथा भी ऐसी ही है । अन्य छात्रों ने आगे के पाठ याद कर लिए, पर वे पहला पाठ 'सत्यंवद' ही रटते-लिखते रहे । अध्यापक ने आगे के पाठ पढ़ने के लिए कहा तो उनका उत्तर यही था कि एक पाठ याद हो जाने पर दूसरा पढ़ना चाहिए । उनका तात्पर्य यह था कि सत्य के प्रति अगाध निष्ठा और व्यवहार में उतारने की परिपक्वता उत्पन्न हो जाने तक उसी क्षेत्र में अपने चिन्तन को जोते रहना चाहिए ।

नाम जप में होने वाली पुनरावृत्ति के पीछे युधिष्ठिर और प्रहलाद द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया का संकेत है । भगवानमय जीवन बनाने की स्थिति आने तक नाम स्मरण करते जाना चाहिए । अन्तरात्मा द्वारा एक मन और दश इन्द्रियों को पढ़ाने के लिए खोली गई पाठशाला को उपासना कृत्य समझा जा सकता है, उसमें

नाम जप की रटाई कराई जाती है ताकि यह छात्र वर्णमाला, गिनती, पहाड़े भली प्रकार याद कर सकें । एक ही विधान को दुहराते रहने के पीछे यही बाल शिक्षण की प्रक्रिया काम करती है ।

कपड़े को देर तक रंग भरी नाद में डुबोये रहने से उस पर पक्का रंग चढ़ जाता है । चन्दन वृक्ष के समीप उगे हुए झाड़-झंखाड़ भी सुगन्धित हो जाते हैं । गुलाब के फूल जिस मिट्टी पर टूट-टूटकर गिरते रहते हैं वह भी सुगन्धित हो जाती है । सान्निध्य का लाभ सर्वविदित है । सत्संग और कुसंग के भले-बुरे परिणाम आये दिन सामने आते रहते हैं । उपासना कृत्य भगवान की समीपता है, उसका सत्परिणाम सामने आये बिना नहीं रह सकता । कीट-भृंग का उदाहरण प्रख्यात है ।

जप के लिए भारतीय धर्म में सर्वविदित और सर्वोपरि मंत्र गायत्री मंत्र का प्रतिपादन है । उसे गुरुमंत्र कहा गया है । अन्तः चेतना को परिष्कृत करने में उसका जप बहुत ही सहायक सिद्ध होता है । वेदमाता उसे इसीलिए कहा गया है कि वेदों में सन्निहित ज्ञान-विज्ञान का सारा वैभव बीज रूप में इन थोड़े से अक्षरों में ही सन्निहित है ।

जप का भौतिक महत्व भी है । विज्ञान के आधार पर भी उसकी उपयोगिता समझी समझाई जा सकती है । शरीर और मन में अनेकानेक दिव्य क्षमतायें चक्रों, ग्रन्थियों, भेद और उपत्यिकाओं के रूप में विद्यमान हैं, उनमें ऐसी सामर्थ्यें विद्यमान हैं जिन्हें जगाया जा सके तो व्यक्ति को अतीन्द्रिय एवं अलौकिक विशेषतायें प्राप्त हो सकती हैं । साधना का परिणाम सिद्धि है । यह सिद्धियाँ भौतिक प्रतिभा और आत्मिक दिव्यता के रूप में जिन साधना आधारों के सहारे विकसित होती हैं, उनमें जप को प्रथम स्थान दिया गया है ।

मुख को अग्निचक्र कहा गया है । मोटे अर्थों में उसकी संगति जठराग्नि से मिलाई जा सकती है । मंदाग्नि, तीव्राग्नि का वर्णन मुँह से लेकर आमाशय आन्त्र संस्थान तक विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई पाचन ग्रन्थियों की निष्क्रियता-सक्रियता का परिचय देने के रूप में ही किया जाता है । मुँह चबाता है और पचाने का प्राथमिक कार्य अपने गह्वर में पूरा करता है । आगे चलकर आहार की पाचन

क्रिया अन्यान्य रूपों में विकसित होती जाती है ।

अग्निचक्र की, मुख में अवस्थित ऊष्मा की स्थूल चर्चा ही पाचन प्रक्रिया के रूप में की जा सकती है । वस्तुतः उस संस्थान को यज्ञाग्नि का दिव्य कुण्ड कह सकते हैं, जिससे पाचन ही नहीं, वाक् शक्ति का भी उद्‌भव होता है ।

मुख का अग्निचक्र स्थूल रूप से पाचन का, सूक्ष्म रूप में उच्चारण का और कारण रूप से चेतनात्मक दिव्य प्रवाह उत्पन्न करने का कार्य करता है । उसके तीनों कार्य एक से एक बढ़कर हैं । पाचन और उच्चारण की महत्ता सर्वविदित है । दिव्य प्रवाह संचार की बात कोई-कोई ही जानते हैं । जपयोग का सारा विज्ञान इसी रहस्यमयी सामर्थ्य के साथ सम्बद्ध है ।

शब्दों का उच्चारण मात्र जानकारी ही नहीं देता वरन् उसके साथ अनेकानेक भाव अभिव्यंजनायें, संवेदनायें, प्रेरणायें एवं शक्तियाँ भी जुड़ी होती हैं । यदि ऐसा न होता तो वाणी में मित्रता एवं शत्रुता उत्पन्न करने की सामर्थ्य न होती । दूसरों को उठाने गिराने में उसका उपयोग न हो पाता । कटु शब्द सुनकर क्रोध चढ़ आता है और न कहने योग्य करने तथा न करने योग्य करने की स्थिति बन जाती है । चिन्ता का समाचार सुनकर भूख-प्यास और नींद चली जाती है । शोक संवाद सुनकर मनुष्य अर्द्धमूर्च्छित जैसा हो जाता है । तर्क, तथ्य, उत्साह एवं भावुकता भरा शब्द प्रवाह देखते-देखते जनसमूह का विचार प्रवाह बदल देता है और उस उत्तेजना से सम्मोहित असंख्य मनुष्य कुशल वक्ता का अनुसरण करने के लिए तैयार हो जाते हैं । द्रौपदी ने थोड़े से व्यंग-उपहास भरे अपमान-जनक शब्द दुर्योधन से कह दिये थे । उनका घाव इतना गहरा उतरा कि अठारह अक्षौहिणी सेना का विनाश करने वाले महाभारत के रूप में उसकी भयानक प्रतिक्रिया सामने आयी । इन तथ्यों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि वाणी का काम जानकारी देना भर नहीं है । शब्द प्रवाह के साथ-साथ उनके प्रभावोत्पादक चेतन तत्व भी जुड़े रहते हैं और वे ध्वनि कम्पनों के साथ घुले रहकर जहाँ भी

टकराते हैं, वहाँ चेतनात्मक हलचल उत्पन्न करते हैं । शब्द को पदार्थ विज्ञान की कसौटी पर भौतिक तरंग स्पन्दन भर कहा जा सकता है, पर उसकी चेतना को प्रभावित करने वाली संवेदनात्मक क्षमता की भौतिक व्याख्या नहीं हो सकती । वह विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक है ।

जपयोग में शब्द शक्ति के इसी आध्यात्मिक प्रभाव को छान कर काम में लाया जाता है । नींबू का रस निचोड़ कर उसका छिलका एक ओर रख दिया जाता है । दूध में से घी निकालकर छाछ को महत्वहीन ठहरा दिया जाता है । जपयोग में ऐसा ही होता है । उसके द्वारा ऐसी चेतन शक्ति का उद्भव होता है, जो जपकर्त्ता के शरीर एवं मन में विचित्र प्रकार की हलचलें उत्पन्न करती है और अनन्त आकाश में उड़कर विशिष्ट व्यक्तियों को, विशेष परिस्थितियों को तथा समूचे वातावरण को प्रभावित करती है ।

मंत्रों का चयन ध्वनि–विज्ञान को आधार मान कर किया गया है । अर्थ का समावेश गौण है । गायत्री मंत्र की सामर्थ्य अद्‌भुत है, पर उसका अर्थ अति सामान्य है । भगवान से सद्‌बुद्धि की कामना भर उसमें की गई है । इसी अर्थ प्रयोजन को व्यक्त करने वाले मंत्र श्लोक हजारों हैं । हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में भी ऐसी कविताओं की कमी नहीं जिनमें परमात्मा से सद्‌बुद्धि की प्रार्थना की गई है । फिर उन सब कविताओं को गायत्री मंत्र के समकक्ष क्यों नहीं रखा जाता और उनका उच्चारण क्यों उतना फलप्रद नहीं होता ? वस्तुतः मंत्र सृष्टाओं की दृष्टि में शब्दों का गुंथन ही महत्वपूर्ण रहा है । कितने ही बीज मंत्र ऐसे हैं जिनका खींचतान के ही कुछ अर्थ भले ही गढ़ा जाय पर वस्तुतः ह्रीं, श्रीं, क्लीं, ऐं, हुं, यं, फट आदि शब्दों का अर्थ क्या हो सकता है, इस प्रश्न पर माथापच्ची करना बेकार है । इनका सृजन यह ध्यान में रखते हुए किया गया है कि इनका उच्चारण किस स्तर का शक्ति कम्पन उत्पन्न करता है और इनका जपकर्त्ता, बाह्य वातावरण तथा अभीष्ट प्रयोजन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

मानसिक, वाचिक एवं उपांशु जप में ध्वनियों के हलके भारी

किये जाने की प्रक्रिया काम में लाई जाती है । वेद मन्त्रों के अक्षरों के साथ-साथ उदात्त-अनुदात्त और स्वरित क्रम से उसका उच्चारण नीचे-ऊँचे तथा मध्यवर्ती उतार-चढ़ाव के साथ किया जाता है । उनके सस्वर उच्चारण की परम्परा है । यह सब विधान इसी दृष्टि से बनाने पड़े हैं कि उन मंत्रों का जप अभीष्ट उद्देश्य पूरा कर सकने वाला शक्ति प्रवाह उत्पन्न कर सके ।

मंत्र जप की दुहरी प्रतिक्रिया होती है । एक भीतरी, दूसरी बाहरी । आग जहाँ जलती है, उस स्थान को गरम करती है, साथ ही वायुमण्डल में ऊष्मा बिखेर कर अपने प्रभाव क्षेत्र को भी गर्मी देती है । जप का ध्वनि प्रवाह, समुद्र की गहराई में चलने वाली जल धाराओं की तरह तथा ऊपर आकाश में छितराई हुई उड़ने वाली हवा की परतों की तरह अपनी हलचलें उत्पन्न करता है । उनके कारण शरीर में यत्र-तत्र, सन्निहित अनेकों 'चक्रों' तथा 'उपत्यिका' ग्रन्थियों में विशिष्ट स्तर का शक्ति संचार होता है । लगातार के एक नियमित क्रम से चलने वाली हलचलें ऐसा प्रभाव उत्पन्न करती हैं, जिन्हें रहस्यमय ही कहा जा सकता है । पुलों पर सैनिकों को पैरों को मिलाकर चलने से उत्पन्न क्रमबद्ध ध्वनि उत्पन्न करने के लिए इसलिए मना किया जाता है कि इस साधारण-सी क्रिया से पुल तोड़ देने वाला असाधारण प्रभाव उत्पन्न हो सकता है ।

जप लगातार करना पड़ता है और एक ही क्रम से इस प्रक्रिया के परिणामों को विज्ञान की प्रयोगशाला में अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है । एक टन भारी लोहे का गार्डर किसी छत के बीचोंबीच लटका दिया जाय और उस पर पाँच ग्राम भारी हलके से कार्क के लगातार आघात करने प्रारम्भ कर दिये जायें तो कुछ ही समय में वह सारा गार्डर काँपने लगेगा । यह लगातार, एक गति से आघात क्रम से उत्पन्न होने वाली शक्ति का चमत्कार है । मंत्र जप यदि विधिवत् किया गया है तो उसका परिणाम भी यही होता है । सूक्ष्म शरीर में अवस्थित चक्रों और ग्रन्थियों को जप ध्वनि का अनवरत प्रभाव अपने ढंग से प्रभावित करता है और उत्पन्न हुई

हलचल उनकी मूर्च्छना दूर करके जागृति का अभिनव दौर उत्पन्न करती है । ग्रन्थि भेदन तथा चक्र जागरण का सत्परिणाम जपकर्त्ता को प्राप्त होता है । जगे हुए यह दिव्य संस्कार साधक में आत्मबल का नया संचार करते हैं । उसे ऐसा कुछ अपने भीतर जगा, उगा प्रतीत होता है, जो पहले नहीं था । इन नवीन उपलब्धि के लाभ भी उसे प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होते हैं ।

टाइप राइटर के उदाहरण से इस तथ्य को और भी अच्छी तरह समझा जा सकता है । उँगली से चाबियाँ दवाई जाती हैं और कागज पर तीलियाँ गिर कर अक्षर छापने लगती हैं । मुख में लगे उच्चारण में प्रयुक्त हीने वाले कलपुर्जों को टाइप राइटर की कुञ्जियाँ कह सकते हैं । मन्त्रोच्चार उँगली से उन्हें दवाना हुआ । यहाँ से उत्पन्न शक्ति प्रवाह नाड़ी तन्तुओं की तीलियों के सहारे सूक्ष्म चक्रों और दिव्य ग्रन्थियों तक पहुँचता है और उन्हें झकझोर कर जगाने, खड़ा करने में संलग्न होता है । अक्षरों का छपना वह उपलब्धि है, जो इन जागृत चक्रों द्वारा रहस्मयी सिद्धियों के रूप में साधक को मिलती हैं । यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि यदि जपयोग को विधिवत् साधा गया होगा तो उसका सत्परिणाम उत्पन्न होगा ही ।

पुलों पर से होकर गुजरती हुई सेना को पैर मिलाकर चलने पर ध्वनि प्रवाह उत्पन्न करने की मनाही कर दी जाती है । पुलों पर से गुजरते समय वे बिखरे हुए, स्वच्छन्दतापूर्ण कदम बढ़ाते हैं । कारण यह है कि लेफ्ट–राइट के ठीक क्रम से तालबद्ध पैर पड़ने से जो एकीभूत शक्ति उत्पन्न होती है उसकी अद्‌भुत शक्ति के प्रहार से मजबूत पुलों में दरार पड़ सकती है और भारी नुकसान हो सकता है । मंत्र जप के क्रमबद्ध उच्चारण से उसी प्रकार का तालक्रम उत्पन्न होता है और उसके फलस्वरूप शरीर के अन्तः संस्थानों में विशिष्ट हलचल उत्पन्न होती हैं । यह हलचलें उन अलौकिक शक्तियों की मूर्च्छना दूर करती हैं जो जागृत होने पर सामान्य मनुष्य को असामान्य चमत्कारों से सम्पन्न सिद्ध कर सकती हैं ।

हाथों को लगातार थोड़ी देर तक घिसा जाय तो वे गरम हो

जाते हैं । रगड़ से गर्मी और बिजली पैदा होती है, यह नियम विज्ञान की प्रथम कक्षा में पढ़ने वाले छात्र भी जानते हैं । जप में अनवरत उच्चारण क्रम एक प्रकार का घर्षण उत्पन्न करता है । पत्थर पर रस्सी की रगड़ पड़ने से घिसाव के निशान बन जाते हैं । श्वांस के आवागमन तथा रक्त की भाग–दौड़ से शरीर में गर्मी उत्पन्न होती है और उसी पर जीवन अवलम्बित रहता है । डायनुमों में पहिया घूमने से बिजली उत्पन्न होने की बात सभी जानते हैं । जप करने में जो घर्षण प्रक्रिया गतिशील होती है, वह दौड़ लगाने पर शरीर के उत्तेजित हो जाने की तरह सूक्ष्म शरीर में उत्तेजना पैदा करती है और उस गर्मी से मूर्च्छित पड़ा अन्तर्जगत नये जागरण का अनुभव करता है । यह जागरण मात्र उत्तेजना नहीं होती उसके साथ–साथ दिव्य उपलब्धियों की सम्भावना भी जुड़ी रहती है ।

ध्वनियाँ उतनी ही नहीं हैं जितनी कि कानों से सुनाई पड़ती हैं । कान तो एक निश्चत स्तर के ध्वनि कम्पनों को ही सुन पाते हैं । उनकी पकड़ से ऊँचे और नीचे कम्पनों वाले भी असंख्य ध्वनि प्रवाह होते हैं जिन्हें मनुष्य के कान तो सुन नहीं सकते, पर उनके प्रभावों को उपकरणों की सहायता से प्रत्यक्ष देखा–जाना जा सकता है । इन्हें 'सुपर सौनिक' ध्वनि तरगें कहते हैं ।

मनुष्य की ग्रहण और धारण शक्ति सीमित है । वह अपनी दुबली–'सी क्षमता के लिए उपयुक्त शब्द प्रवाह ही पकड़ सके, इसी स्तर की कानों की झिल्ली बनी हैं, किन्तु यह संसार तो शक्ति का अथाह सागर है और इसमें ज्वार–भाटे की तरह श्रवणातीत ध्वनियाँ गतिशील रहती हैं । अच्छा ही हुआ कि मनुष्य की गृहण शक्ति सीमित है और वह अपने सीमित प्रवाह ही ले पाता है अन्यथा यदि श्रवणातीत ध्वनियाँ भी उसे प्रभावित कर सकतीं तो जीवन धारण ही संभव न हो पाता ।

शब्द की गति साधरणतया बहुत धीमी है । वह मात्र कुछ सौ फुट प्रति सैकण्ड चल पाती है । तोप चलने पर धुआँ पहले दीखता है और धड़ाके की आवाज पीछे सुनाई देती है । जहाँ दृश्य और

श्रव्य का समावेश है वहाँ हर जगह ऐसा ही होगा । दृश्य पहले दीखेगा और उस घटना के साथ जुड़ी हुई आवाज कान तक पीछे पहुँचेगी ।

रेडियो प्रसारण में एक छोटी–सी आवाज को विश्वव्यापी बना देने और उसे १ लाख ८६ हजार मील प्रति सैकण्ड की चाल से चलने योग्य बना देने में इलेक्ट्रो मैगनेटिक तरंगों का ही चमत्कार होता है । रेडियो विज्ञानी जानते हैं कि 'इलेक्ट्रोमैग्नेटिक वेव्स' पर साउण्ड का सुपर कम्पोज रिकार्ड कर दिया जाता है और वे पलक मारते सारे संसार की परिक्रमा कर लेने जितनी शक्तिशाली बन जाती हैं ।

इलेक्ट्रो मैग्नेटिक तरंगों की शक्ति से ही अन्तरिक्ष में भेजे गये राकेटों की उड़ान को धरती पर से नियंत्रित करने, उन्हें दिशा और संकेत देने, यांत्रिक खराबी दूर करने का प्रयोजन पूरा किया जाता है । वे 'लैसर' स्तर की बनती हैं, तो शक्ति का ठिकाना नहीं रहता । एक फुट मोटी लोहे की चद्दर में सूराख कर देना उनके बाँये हाथ का खेल है । पतली वे इतनी होती हैं कि आँख की पुतली के लाखवें हिस्से में खराबी होने मात्र उतने ही टुकड़े का निर्धारित गहराई तक ही सीमित रहने वाला सफल आपरेशन कर देती हैं । अब इन किरणों का उपयोग चिकित्सा क्षेत्र में भी बहुत होने लगा है । कैन्सर, अन्त्रशोथ, यकृत की विकृति, गुर्दे की सूजन, हृदय की जकड़न जैसी बीमारियों की चिकित्सा में इनका सफल उपयोग हो रहा है ।

'सुपर सौनिक' श्रवणातीत तरंगों का जप प्रक्रिया के द्वारा उत्पादन और समन्वय होता है । जप के समय उच्चारण किये गये शब्द आत्म–निष्ठा, श्रद्धा एवं संकल्प शक्ति का समन्वय होने से वही क्रिया सम्पन्न होती है, जो रेडियो स्टेशन पर बोले गये शब्द–विशिष्ट विद्युत् शक्ति के साथ मिलकर अत्यन्त शक्तिशाली हो उठते हैं और पलक मारते ही समस्त भूमण्डल में अपना उद्देश्य प्रसारित कर देते हैं । जप प्रक्रिया में एक विशेषता यह है कि उससे न केवल समस्त संसार का वातावरण प्रभावित होता है, वरन् साधक का व्यक्तित्व भी

झनझनाने, जगमगाने लगता है । जबकि रेडियो स्टेशन से प्रसारण तो होता है, पर कोई स्थानीय विलक्षणता दिखाई नहीं पड़ती । लैसर रेडियम किरणें फेंकने वाले यंत्रों में कोई निजी प्रभाव नहीं देखा जाता । वे उन स्थानों को ही प्रभावित करते हैं जहाँ उनका आघात लगता है । जप प्रक्रिया में साधक को और वातावरण को प्रभावित करने की वह दुहरी शक्ति है, जो नव वैज्ञानिकों के सामान्य यंत्र उपकरणों में नहीं पाई जाती ।

जप सामान्य रूप से उपांशु किया जाता है, जिसमें गायत्री मंत्र का प्रयोग किया जाता है । जप का एक और महत्वपूर्ण प्रयोग सोऽहं साधना के रूप में भी होता है जिसमें किसी मंत्र का सीधा प्रयोग नहीं होता । इसमें जप के साथ प्राण विद्या का प्रयोग किया जाता है ।

'सोऽहम्' साधना को 'अजपा जाप' अथवा प्राण गायत्री भी कहा गया है । मान्यता है कि श्वांस के शरीर में प्रवेश करते समय 'स' जैसी सांस रुकने से तनिक के विराम समय में 'ो' जैसी और बाहर निकलते समय 'हम' जैसी अत्यन्त सूक्ष्म ध्वनि होती रहती है । इसे श्वांस क्रिया पर चिरकाल तक ध्यान केन्द्रित करने की साधना द्वारा सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय द्वारा सुना जा सकता है । चूँकि ध्वनि सूक्ष्म है स्थूल नहीं, इसलिए उसे अपने छेद वाले कानों मे नहीं, सूक्ष्म शरीर में रहने वाली सूक्ष्म कर्णेद्रिय द्वारा शब्द तन्मात्रा के रूप में ही सुना जा सकता है । कोई खुले कानों से इन शब्दों को सुनने का प्रयत्न करेगा तो उसे कभी भी सफलता न मिलेगी ।

नादयोग में मात्र सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय द्वारा शंख, घड़ियाल, बादल, झरना, वीणा जैसे कितने ही दिव्य शब्द सुने जाते हैं. किन्तु हंस–योग में नासिका एवं कर्णेन्द्रिय की समन्वित सूक्ष्य शक्ति का दुहरा लाभ मिलता है । 'सोऽहम्' को अनाहत शब्द कहा गया है । आहत वे हैं, जो कहीं कोई चोट लगने से उत्पन्न होते हैं । अनाहत वे जो बिना किसी आघात के उत्पन्न होते हैं । नादयोग में जो दिव्य ध्वनियाँ सुनी जाती हैं उनके बारे में दो मान्यतायें हैं । एक यह है कि प्रकृति के अन्तराल सागर में पाँच तत्वों और सत, रज, तम यह तीन गुणों की जो

उथल–पुथल मचती रहती है यह उनकी प्रतिक्रिया है, दूसरे यह माना जाता है कि शरीर के भीतर जो रक्त संचार, आकुंचन–प्रकुंचन, श्वांस–प्रश्वांस जैसी क्रियायें अनवरत रूप से होती रहती हैं, यह शब्द उन हलचलों से उत्पन्न होते हैं । अस्तु यह आहत हैं । नादयोग को भी कई जगह अनाहत कहा गया है, पर आम मान्यता यही है कि वे आहत हैं । मुख से जो शब्द उत्पन्न होते हैं, वे भी होंठ, जीभ, कण्ठ, तालु आदि अवयवों की मांस पेशियों की उठक–पटक से उत्पन्न होते हैं, अस्तु जप भी आहत है । आहत से अनाहत का महत्व अधिक माना गया है । अनाहत ब्रह्म चेतना द्वारा निश्चित और आहत प्रकृतिगत हलचलों से उत्पन्न होते हैं अस्तु उनका महत्व भी ब्रह्म और प्रकृति की तुलना जैसा ही न्यूनाधिक है ।

तत्वदर्शियों का मत है कि जीवात्मा के गहन अन्तराल में उसकी आत्मबोध प्रज्ञा स्वयमेव जगी रहती है और उसी की स्फुरणा से 'सोऽहम्' का आत्मबोध अजपा जाप बनकर स्वसंचालित बना रहता है । संस्कृत भाषा के स+अहम् शब्दों से मिलकर 'सोहम्' का आविर्भाव माना जाता है । यहाँ व्याकरण शास्त्र की संधि प्रक्रिया के झंझट में पड़ने की आवश्यकता नहीं है । जो सनातन ध्वनियाँ चल रही हैं वे व्याकरण शास्त्र के अनुकूल हैं या नहीं यह सोचना व्यर्थ है । देखना इतना भर है कि इन सनातन शब्द संचार का क्या भाव बैठता है ? 'सो' अर्थात् वह । अहम् अर्थात् मैं । दोनों का मिला–जुला निष्कर्ष निकला–"वह मैं हूँ ।" 'वह' अर्थात् परमात्मा, 'मैं' अर्थात् जीवात्मा । दोनों का समन्वय एकी भाव–'सोहम्' । आत्मा और परमात्मा एक है, यह अद्वैत सिद्धान्त का समर्थन है । तत्त्वमसि, अयमात्मा, ब्रह्म–शिवोहम्, सच्चिदानन्दोहम्–शुद्धोसि, बुद्धोसि निरंजनोसि जैसे वाक्यों में इसी दर्शन का प्रतिपादन है । उनमें जीव और ब्रह्म की तात्विक एकता का प्रतिपादन है ।

'सोहम्' उपासना के निमित्त किये गये प्रणायाम में इसी अविज्ञात तथ्य को प्रत्यक्ष करने का–प्रसुप्त को जगाने का प्रयत्न किया जाता है । जीव अपने आपको शरीर मान बैठा है । उसी की सुविधा

एवं प्रसन्नता की बात सोचता है, उसी के लाभ प्रयत्नों में संलग्न रहता है । काया के साथ जुड़े हुए व्यक्ति और पदार्थ ही उसे अपने लगते हैं और उसी सीमित सम्बन्ध क्षेत्र तक ममत्व को सीमित करके, अन्य सबको पराया समझता रहता है । 'अपनों' के लाभ के लिए 'परायों' को हानि पहुँचाने में उसे संकोच नहीं होता । यही है माया मग्न, भव-बन्धनों में जकड़े हुए मोहग्रस्त जीव की स्थिति । इसी में बँधे रहने के कारण उसे स्वार्थ के, व्यर्थ के, अनर्थ के, कामों में संलग्न रहना पड़ता है । यही स्थिति प्राणी को अनेकानेक आधि-व्याधियों में उलझाती और शोक-संताप के गर्त में धकेलती है । इससे बचा, उवरा जाय, इसी समस्या को हल करने के लिए आत्म-ज्ञान एवं साधना विज्ञान का ढाँचा खड़ा किया गया है ।

'सोहम्' को सद्ज्ञान, तत्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान कहा गया है । इससे आत्मा को अपनी वास्तविक स्थिति समझने, अनुभव करने का संकेत मिलता है । 'वह परमात्मा मैं ही हूँ ।' इस तत्वज्ञान में माया मुक्ति स्थिति की शर्त जुड़ी हुई है । नरकीट, नर-पशु और नर-पिशाच जैसी निकृष्ट परिस्थितियों में घिरी 'अहंता' के लिए इस पुनीत शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता । ऐसे तो रावण, कंस, हिरण्यकश्यप जैसे अहंकारग्रस्त आततायी ही लोगों के मुख से अपने को ईश्वर कहलाने के लिए बाधित करते थे । अहंकार उन्मत्त मनःस्थिति में वे अपने को वैसा समझते भी थे, पर इससे बना क्या ? उनका अहंकार ही ले डूबा । 'सोहम्' साधना में पंचतत्त्वों और तीन गुणों से बने घिरे शरीर को ईश्वर मानने के लिए नहीं कहा गया है । ऐसी मान्यता तो उलटा अहंकार जगा देगी और उत्थान के स्थान पर पतन का नया कारण बनेगी । यह दिव्य संकेत आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विवेचन है । वह वस्तुतः ईश्वर का अंश है । समुद्र और लहरों की, सूर्य और किरणों की, मटाकाश और घटाकाश की, ब्रह्माण्ड और पिण्ड की, आग और चिनगारी की उपमा देकर परमात्मा और आत्मा की एकता का प्रतिपादन करते हुए मनीषियों ने यही कहा है कि मल-आवरण, विक्षेपों से, कषाय-कल्मषों से मुक्त हुआ जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है ।

दोनों की एकता में व्यवधान मात्र अज्ञान का है, यह अज्ञान ही अहंता के रूप में विकसित होता है और संकीर्ण स्वार्थ–परता में निमग्न होकर व्यर्थ चिन्तन तथा अनर्थ कार्य में निरत रहकर अपनी दुर्गति अपने हाथों आप बनाता है । साधना का उद्देश्य मनःक्षेत्र में भरी कुण्ठाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । सर्वतोमुखी निर्मलता का अभिवर्धन ही ईश्वर प्राप्ति की दिशा में बढ़ने वाला महान् प्रयास माना गया है । सोहम्–साधना की प्रतिक्रिया यही होनी चाहिए ।

'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' की उक्ति धर्मशास्त्रों में अनेक स्थानों पर लिखी पाई जाती है और अनेक धर्मोपदेशकों द्वारा आये दिन सुनी जाती है । उसे सामान्य बुद्धि जानती और मानती भी है, पर इतने भर से बनता कुछ नहीं । यह मान्यता अन्तःकरण के गहनतम स्तर की गहराई तक उतरनी चाहिए । गहन आस्था बनकर प्रतिष्ठापित होने वाली श्रद्धा ही अन्तःप्रेरणा बनती है और उसी के धकेले हुए मस्तिष्क तथा शरीर रूपी सेवकों को कार्य संलग्न होना पड़ता है । 'सोहम्' तत्वज्ञान यदि अन्तरात्मा की प्रखर श्रद्धा के रूप में विकसित हो सके तो उसका परिणाम सुनिश्चित रूप से दिव्य जीवन जैसा कायाकल्प बनकर सामने आना चाहिए । तब व्यक्ति को उसी स्तर पर सोचना होगा जिस पर ईश्वर सोचता है और वही करना होगा जो ईश्वर करता है । एकता की स्थिति में दोनों का स्वरूप भी एक हो जाता है । नाला जब गंगा में मिलता है और बूँद समुद्र में घुलती है तो दोनों का स्वरूप एवं स्तर एक हो जाता है । ब्रह्म भाव से जगा हुआ जीव अपने चिन्तन और कर्म क्षेत्र में सुविकसित स्तर का देव मानव ही दृष्टिगोचर होता है

स्पष्ट है कि जप किन्हीं शब्द विशेषों को बोल देना मात्र नहीं है उसमें वाक्शक्ति, चिन्तन तथा प्राण एवं भाव शक्ति का भी प्रयोग करना होता है । इस प्रकार किया हुआ जप प्राणवान् जीवन्त जप कहा जा सकता है । उपासना के इस महत्त्वपूर्ण अंग को अपनाकर उसका समुचित लाभ निश्चित रूप से उठाया जा सकता है ।

⊙

ध्यान धारणा की दिव्य-शक्ति

ध्यान एक ऐसी विद्या है जिसकी आवश्यकता हमें लौकिक जीवन में भी पड़ती है और आध्यात्मिक अलौकिक क्षेत्र में भी उसका उपयोग किया जाता है । ध्यान को जितना सशक्त बनाया जा सके, उतना ही वह किसी भी क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध हो सकता है । मनुष्य को जो कुछ प्राप्त है उसके ठीक-ठीक उपयोग तथा जो प्राप्त करना चाहिए, उसके प्रति प्रखरता-दोनों ही दिशाओं में ध्यान बहुत उपयोगी है । उपासना क्षेत्र में भी ध्यान की इन दोनों ही धाराओं का उपयोग किया जाता है । अपने स्वरूप और विभूतियों का बोध तथा अपने लक्ष्य की ओर प्रखरता दोनों ही प्रयोजनों के लिए ध्यान का प्रयोग किया जाता है ।

हम अपने स्वरूप, ईश्वर के अनुग्रह-जीवन के महत्त्व एवं लक्ष्य की बात को एक प्रकार से पूरी तरह भुला बैठे हैं । न हमें अपनी सत्ता का ज्ञान है, न ईश्वर का ध्यान और न लक्ष्य का ज्ञान । अज्ञानान्धकार की भूल-भुलैयों में बेतरह भटक रहे हैं । यह भुलक्कड़पन विचित्र है । लोग वस्तुओं को तो अक्सर भूल जाते हैं, सुनी, पढ़ी बातों को भूल जाने की घटनायें भी होती रहती हैं । कभी के परिचित भी विस्मृत होने से अपरिचित बन जाते हैं, पर ऐसा कदाचित ही होता है कि अपने आपे को भी भुला दिया जाय । हम अपने को शरीर मात्र मानते हैं । उसी के स्वार्थों को अपना स्वार्थ, उसी की आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकता मानते हैं । शरीर और मन यह दोनों ही साधन जीवन रथ के दो पहिये मात्र हैं, पर घटित कुछ विलक्षण हुआ है । हम आत्मसत्ता को सर्वथा भुला बैठे हैं । यों शरीर और आत्मा की पृथकता की बात कही-सुनी तो अक्सर जाती है, पर वैसा भान जीवन भर में कदाचित ही कभी होता हो । यदि होता भी है तो बहुत ही धुँधला । यदि वस्तु स्थिति समझ ली जाती है और जीव सत्ता तथा उसके उपकरणों की पृथकता का

स्वरूप चेतना में उभर आता है तो आत्म–कल्याण की बात प्रमुख बन जाती है और वाहनों के लिए उतना ही ध्यान दिया जाता है, जितना कि उनके लिए आवश्यक था । आज तो 'हम' नंगे फिर रहे हैं और वाहनों को स्वर्ण आभूषणों से सजा रहे हैं । 'हम' भूखे मर रहे हैं और वाहनों को घी पिलाया जा रहा है । 'हम' से मतलब है आत्मा और वाहन से मतलब है शरीर और मन । स्वामी–सेवकों की सेवकाई में लगा है और अपने उत्तरदायित्वों को सर्वथा भुला बैठा है, यह विचित्र स्थिति है । वस्तुतः हम अपने आपे को खो बैठे हैं ।

आध्यात्मिक ध्यान का उद्देश्य है, अपने स्वरूप और लक्ष्य की विस्मृति के कारण उत्पन्न वर्तमान विपन्नता से छुटकारा पाना । 'एक बच्चा घर से चला ननिहाल के लिए । रास्ते में मेला पड़ा और वह उसी में रम गया । वहाँ के दृश्यों में इतना रमा कि अपने घर तथा गन्तव्य को ही नहीं अपना नाम पता भी भूल गया ।' यह कथा बड़ी अटपटी लगती है, पर है सोलहों आने सच और वह हम सब पर लागू होती है । अपना नाम पता, परिचय पत्र, टिकट आदि सब कुछ गँवा देने पर हम असमंजस भरी स्थिति में खड़े हैं कि आखिर हम हैं कौन ? कहाँ से आये हैं और कहाँ जाना था ? स्थिति विचित्र है इसे न स्वीकार करते बनता है और न अस्वीकार करते । स्वीकार करना इसलिए कठिन है कि हम पागल नहीं, अच्छे–खासे समझदार हैं । सारे कारोबार चलाते हैं, फिर आत्म–विस्मृत कहाँ हुए ? अस्वीकार करना भी कठिन है क्योंकि वस्तुतः हम ईश्वर के अंश हैं–महान मनुष्य जन्म के उपलब्धकर्त्ता हैं तथा परमात्मा को प्राप्त करने तक घोर अशान्ति की स्थिति में पड़े रहने की बात को भी जानते हैं । साथ ही यह भी स्पष्ट है कि जो होना चाहिए, वह नहीं हो रहा है और जो करना चाहिए वह कर भी नहीं रहे हैं । यही अन्तर्द्वन्द उभर कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में छाया रहता है और हमें निरन्तर घोर अशान्ति अनुभव होती है ।

जीवन का लक्ष्य पूर्णता प्राप्त करना है । यह पूर्णता ईश्वरीय स्तर की ही हो सकती है । आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए उस

लक्ष्य पर ध्यान को एकाग्र करना आवश्यक है । महत्वपूर्ण इमारतें बनाने से पूर्व उनके नक्शे, छापे एवं मॉडल बनाये जाते हैं । इंजीनियर, कारीगर उसी को देख–देखकर अपना निर्माण कार्य चलाते हैं और समयानुसार इमारत बन कर तैयार हो जाती है । भगवान का स्वरूप और गुण, कर्म, स्वभाव कैसा हो इसकी ध्यान प्रतिमा विनिर्मित की जाती है और फिर उसके साथ समीपता, एकता, तादाम्यता स्थापित करते हुए उसी स्तर का बनने के लिए प्रयत्न किया जाता है । ध्यान प्रक्रिया का यही स्वरूप है ।

व्यक्तिगत जीवन में कितने ही व्याकुल विचलित कर देने वाले ऐसे प्रसंग आते हैं, जो मनःस्थिति को उद्विग्न करके रख देते हैं । इन आवेशग्रस्त क्षणों में मनुष्य संतुलन खो बैठता है–न सोचने योग्य सोचता है, न कहने योग्य कहता है और न करने योग्य करता है । गलती आखिर गलती ही रहती है और उसके दुष्परिणाम भी निश्चित रूप से होते हैं । इसीलिए कहा जाता है कि मुसीबत अकेली नहीं आती अपने साथ विपत्तियों का नया परिवार समेट लाती है । इस कथन में सचाई इसलिए है कि जिन कारणों से मानसिक संतुलन बिगड़ा था उनकी हानि तो प्रत्यक्ष ही थी । हानि न होती तो उद्वेग क्यों होता ? अब उद्वेग के कारण जो असंगत चिन्तन, कथन और क्रिया–कलाप आरम्भ हुआ उसने अन्यान्य कितनी ही नई समस्यायें उत्पन्न करके रख दीं । कई बार तो उद्विग्नता शारीरिक, मानसिक अस्वस्थता उत्पन्न करने से भी आगे बढ़ जाती है और आत्महत्या अथवा दूसरों की हत्या कर डालने जैसे संकट उत्पन्न करती है ।

असंतुलन को सन्तुलन में बदलने के लिए ध्यान–एकाग्रता के कुशल अभ्यास से बढ़कर और कोई अधिक उपयोगी उपाय हो ही नहीं सकता । कई बार मन, क्रोध, शोक, कामुकता, प्रतिशोध, विक्षोभ जैसे उद्वेगों में बेतरह फँस जाता है और उस स्थिति में अपना या पराया कुछ भी अनर्थ हो सकता है । उद्विग्नताओं में घिरा हुआ मन कुछ समय में सनकी या विक्षिप्त स्तर का बन जाता है । सही निर्णय कर सकना और वस्तुस्थिति को समझ सकना उसके बस से बाहर की

बात हो जाती है । इन विक्षोभों से मस्तिष्क को कैसे उबारा जाय और कैसे उसे संतुलित स्थिति में रहने का अभ्यस्त कराया जाय, इसका समाधान ध्यान साधना से जुड़ा हुआ है । मन को अमुक चिन्तन प्रवाह से हटाकर अमुक दिशा में नियोजित करने की प्रक्रिया ही ध्यान कहलाती है । इसका प्रारम्भ भटकाव के स्वेच्छाचार से मन को हटाकर एक नियत निर्धारित दिशा में लगाने के अभ्यास से आरंभ होता है । इष्टदेव पर अथवा अमुक स्थिति पर मन को नियोजित कर देने का अभ्यास ही तो ध्यान में करना पड़ता है । मन पर अंकुश पाने, उसका प्रवाह रोकने में, सफलता प्राप्त कर लेना ही ध्यान की सफलता है । यह स्थिति आने पर कामुकता, शोक संतप्तता, क्रोधान्धता, आतुरता, ललक, लिप्सा जैसे आवेशों पर काबू पाया जा सकता है । मस्तिष्क को इन उद्वेगों से रोक कर किसी उपयोगी चिन्तन में मोड़ा–मरोड़ा जा सकता है । कहते हैं कि अपने को वश में कर लेने वाला सारे संसार को वश में कर लेता है । आत्म–नियंत्रण की यह स्थिति प्राप्त करने में ध्यान साधना से बढ़कर और कोई उपाय नहीं है । इसका लाभ आत्मिक और भौतिक दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से मिलता है । अभीष्ट प्रयोजनों में पूरी तन्मयता, तत्परता नियोजित करने से ही किसी कार्य का स्तर ऊँचा उठता है, सफलता का सही मार्ग मिलता है और बढ़ी–चढ़ी उपलब्धियाँ पाने का अवसर मिलता है । आत्मिक क्षेत्र में भी यही तन्मयता प्रसुप्त शक्तियों के जागरण से लेकर ईश्वर प्राप्ति तक का महत्वपूर्ण माध्यम बनती है ।

ध्यान योग का उद्देश्य अपनी मूलभूत स्थिति के बारे में, अपने स्वरूप के बारे में सोच विचार कर सकने योग्य स्मृति को वापिस लौटाना है । यदि किसी प्रकार वह वापिस लौट सके तो लम्बा सपना देखकर डरे हुए व्यक्ति जैसी अन्तःस्थिति हुए बिना नहीं रह सकती । तब प्रतीत होगा कि मेले में खोये हुए बच्चे से, आत्म विस्मृत मानसिक रोगियों से अपनी स्थिति भिन्न नहीं रही है । इस व्यथा से ग्रसित लोग स्वयं घाटे में रहते हैं और अपने सम्बन्धियों को दुःखी

करते हैं । हम आत्मबोध को खोकर भेड़ों के झुण्ड में रहने वाले सिंह की तरह दयनीय स्तर का जीवन-यापन कर रहे हैं और अपनी माता-परमसत्ता को कष्ट दे रहे हैं-रुष्ट कर रहे हैं ।

विस्मरण का निवारण-आत्मबोध की भूमिका में जागरण-यही है ध्यानयोग का लक्ष्य । उसमें ईश्वर का स्मरण किया जाता है-अपने स्वरूप का भी अनुभव किया जाता है । जीव और ब्रह्म के मिलन की स्मृति फिर से ताजा की जाती हैं और यह अनुभव किया जाता है कि जिस दिव्य सत्ता से एक तरह से सम्बन्ध विच्छेद कर रखा गया है, वही हमारी जननी और परम शुभचिंतक है । इतना ही नहीं वह कामधेनु की तरह सशक्त भी है कि उसका पय पान करके देवोपम स्तर का लाभ ले सकें । कल्प-वृक्ष की छाया में बैठकर सब कुछ पाया जा सकता है, ईश्वर सत्ता से सम्पर्क, सान्निध्य, घनिष्ठता बना लेने के बाद भी ऐसा कुछ शेष नहीं रहता जिसे अभाव दारिद्र्य अथवा शोक-संताप कहा जा सके । ध्यान योग हमें इसी लक्ष्य की पूर्ति में सहायता करता है । स्पष्ट है कि आत्मबोध से बढ़कर मानव-जीवन का दूसरा लाभ नहीं हो सकता । भगवान बुद्ध को जिस वट-वृक्ष के नीचे आत्म-बोध हुआ था उसकी डालियाँ काट-काट कर संसार भर में इस आशा से बड़ी श्रद्धापूर्वक आरोपित की गई थीं कि उसके नीचे बैठ कर अन्य लोग भी आत्म-बोध का लाभ प्राप्त कर सकेंगे और दूसरे बुद्ध बन सकेंगे । किसी स्थूल वृक्ष के नीचे बैठकर महान जागरण की स्थिति प्राप्त कर सकना कठिन है, पर ध्यानयोग के कल्प-वृक्ष की छाया में सच्चे मन से बैठने वाला व्यक्ति आत्म-बोध का लाभ ले सकता है और नर-पशु के स्तर से ऊँचा उठकर नर-नारायण के समकक्ष बन सकता है ।

मन जंगली हाथी की तरह है, जिसे पकड़ने के लिए पालतू प्रशिक्षित हाथी भेजने पड़ते हैं । सधी हुई बुद्धि पालतू हाथी का काम करती है । ध्यान के रस्से से पकड़-जकड़ कर उसे काबू में लाती है और फिर उसे सत्प्रयोजनों में संलग्न हो सकने योग्य सुसंस्कृत बनाती है ।

पानी का स्वभाव नीचे गिरना है । उसे ऊँचा उठाना है, तो पम्प, चरखी, ढेंकी आदि लगाने की व्यवस्था बनानी पड़ती है । निम्नगामी पतनोन्मुख प्रवृत्तियों में ही हमारी अधिकांश शक्तियाँ नष्ट होती रहती है । उन्हें ऊपर उठाने के लिए मस्तिष्क में दिव्य-प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होने की ध्यान की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है ।

शक्ति को उपलब्ध करना बड़ी बात नहीं, उसे बिखराव के निरर्थक एवं अपव्यय की अनर्थ मूलक बर्बादी से भी बचाया जाना चाहिए । शक्ति की उपलब्धि का लाभ तभी मिलता है, जब उसे संग्रहीत रखने और सत्प्रयोजन में लगाने की व्यवस्था बन पड़े ।

धूप, गर्मी से ढेरों पानी समुद्र तालाबों में से भाप बनकर उड़ता रहता है, चूल्हों से कितनी ही भाप उत्पन्न होती और उड़ती है । उसका कोई उपयोग नहीं, किन्तु इन्जन में थोड़ा-सा पानी भाप बनाया जाता है । उसी भाप को हवा में उड़ जाने से बचाकर टंकी में एकत्रित किया जाता है और फिर उसका शक्ति प्रवाह एक छोटे छेद में होकर पिस्टन तक पहुँचा दिया जाता है । इतने मात्र से रेलगाड़ी का इन्जन चलने लगता है । चलता ही नहीं दौड़ता भी है । उसकी दौड़ इतनी सामर्थ्ययुक्त होती है कि अपने साथ-साथ बहुत भारी लदी रेलगाड़ी के दर्जनों डिब्बे घसीटता चला जाता है ।

सेरों बारूद यदि जमीन पर फैलाकर माचिस से जलाई जाय तो थोड़ी-सी चमक दिखाकर भक् से जल जायगी । उसका कुछ भी उपयोगी परिणाम न निकलेगा न कोई आवाज होगी । किन्तु यदि उसे बन्दूक की छोटी नली के अन्दर कड़े खोल वाले कारतूस में बन्द कर दिया जाय और घोड़ा दबाकर नन्हीं-सी चिनगारी से स्पर्श कराया जाय तो वह एक तोले से भी कम वजन की बारूद गजब ढाती है । सनसनाती हुई दिशा विशेष की ओर प्रचण्ड गति से दौड़ती है । अपने साथ लोहे की गोली और छर्रों को भी घसीटती ले जाती है और जहाँ टकराती है, वहाँ सफाया उड़ा देती है । बिखरी हुई बारूद की निरर्थकता और उसकी संग्रहीत शक्ति को दिशा विशेष में

प्रयुक्त किये जाने की सार्थकता में कितना अन्तर है, इसे सहज ही समझा जा सकता है।

सूर्य की किरणें सुविस्तृत क्षेत्र में बिखरी पड़ी रहती हैं। रोज ही सूर्य निकलता और अस्त होता है। धूप थोड़ी-सी गर्मी, रोशनी पैदा करने जितना ही काम कर पाती है, किन्तु यदि उन किरणों के एक-दो इंच के बिखराव को आतिशी शीशे द्वारा एक ही केन्द्र पर केन्द्रित कर दिया जाय तो देखते-देखते आग जलने लगेगी और उसे किसी बड़े जंगल में डाल दिया जाय तो दावानल बनकर भयंकर विनाश लीला प्रस्तुत कर सकता है।

स्थूल शक्तियों की तरह सूक्ष्म शक्तियों का लाभ भी उन्हें एकत्रित करके दिशा विशेष में लगा देने से ही सम्भव हो सकता है। मस्तिष्क एक सशक्त बिजलीघर है। इसमें निरन्तर प्रचण्ड विद्युत प्रवाह उत्पन्न होता रहता है और उसके शक्तिशाली कम्पन ऐसे ही अनन्त आकाश में उड़ते-बिखरते नष्ट होते रहते हैं। यदि इस प्रवाह को केन्द्रित करके किसी विशेष लक्ष्य पर नियोजित किया जा सके, तो उसके आश्चर्यजनक परिणाम हो सकते हैं। एकाग्रता की चमत्कारी शक्ति कहीं भी देखी जा सकती है। सरकस में एक से एक बढ़कर आश्चर्यजनक खेल होते हैं। उनमें शारीरिक शक्ति का उपयोग कम और एकाग्रता का अधिक होता है। एक पहिये की साइकिल, एक तार पर चलना, एक से दूसरे झूले पर उछल जाना, तश्तरियाँ तेजी से लगातार एक हाथ से उछालना और दूसरे से पकड़ना जैसे खेलों में एकाग्रतापूर्वक कुछ अंगों को सधा लेने का अभ्यास ही कौतूहल उत्पन्न करता है।

द्रौपदी स्वयंवर में चक्र पर चढ़ी हुई नकली मछली की आँख को तीर से वेध देना विजेता होने की शर्त थी। द्रोणाचार्य उसका पूर्व अभ्यास अपने शिष्यों को करा चुके थे। निशाने पर तीर छोड़ने से पहले वे छात्रों से पूछते थे कि तुम्हें क्या दिखाई दे रहा है? शिष्यगण मछली के आस-पास का क्षेत्र तथा उसका पूरा शरीर दीखने की बात कहते। द्रोणाचार्य उनकी असफलता पहले से ही

घोषित कर देते थे । जब अर्जुन की बारी आई तो उसने प्रश्न के उत्तर में कहा—मुझे मात्र मछली की आँख दीखती है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं । गुरुदेव ने उसके सफल होने की पूर्व घोषणा कर दी और सचमुच वही स्वयंवर में मत्स्य वेध की शर्त पूरी करके द्रौपदी विवाह का अधिकारी बन सका ।

एकाग्रता की शक्ति असाधारण है । भौतिक प्रयोजनों में उसका चमत्कारी उपयोग नित्य ही देखा जाता है । बहीखाता सही रखने और मीजान ठीक जोड़ने में एकाग्रता के अभ्यासी ही सफल होते हैं अन्यथा सुशिक्षितों से भी पन्ने पर भूल होने और काँट—फाँस करने की कठिनाई उत्पन्न होती रहती है । वैज्ञानिकों की यही विशेषता है कि वे अपने विषय में तन्मय हो जाते हैं और विचार समुद्र में गहरे गोते लगाकर नई—नई खोजों के रत्न ढूँढ़ लाते हैं ।

लोकमान्य तिलक के जीवन का एक संस्मरण प्रसिद्ध है कि उनके अँगूठे का आपरेशन होना था । डॉक्टर ने दवा सुँघाकर बेहोश करने का प्रस्ताव रखा तो उनने कहा—'मैं गीता के प्रगाढ़ अध्ययन में लगता हूँ, आप बेखटके ऑपरेशन कर लो ।' डॉक्टर को तब बहुत आश्चर्य हुआ, जब उन्होंने बिना हिले—डुले शान्तिपूर्वक ऑपरेशन करा लिया । पूछने पर तिलक ने इतना ही कहा—तन्मयता इतनी प्रगाढ़ थी जिसमें ऑपरेशन की ओर ध्यान ही नहीं गया और दर्द भी नहीं हुआ ।

कहते हैं कि भृंग नाम का उड़ने वाला कीड़ा झींगुर पकड़ लाता है और उसके सामने निरन्तर गुंजन करता रहता है । उस गुंजन को सुनने और छवि देखते रहने में झींगुर की मनःस्थिति भृंग जैसी हो जाती है । वह अपने को भृंग समझने लगता है, अस्तु धीरे—धीरे उसका शरीर ही भृंग रूप में बदल जाता है । कीट विज्ञानी इस किम्बदंती पर सन्देह कर सकते हैं, पर यह तथ्य सुनिश्चित है कि एकाग्रतापूर्वक जिस भी व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति का देर तक चिन्तन करते रहा जाय, मनुष्य की सत्ता उसी ढाँचे में ढलने लगती है । यह सब इच्छा या अनिच्छा से किसी केन्द्र बिन्दु पर अपने चिन्तन को केन्द्रित करने का परिणाम है ।

असंख्य विशेषतायें और क्षमतायें मानवी सत्ता के कण–कण में भरी पड़ी हैं। दशों इन्द्रियाँ जादू की पिटारियाँ हैं। उन्हें रचनात्मक दिशा में नियोजित रखा जा सके, भटकाव से–बिखराव से बचाया जा सके तो अभीष्ट सफलता की दिशा में द्रुतगति से बढ़ा जा सकता है। मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है। मस्तिष्कीय क्षमता का कोई अन्त नहीं। उसके विचार–पक्ष और बुद्धि–पक्ष का ही थोड़ा–सा प्रयोग होता है, शेष चित्त, अहंकार वाला अचेतन समझा जाने वाला, किन्तु चेतन से लाखों गुना अधिक शक्तिशाली चित्त और अहंकार कहा जाने वाला भाग तो अविज्ञात स्थिति में निष्प्रयोजन ही पड़ा रहता है। अचेतन का अर्थ यहाँ उपेक्षित कहना ही उचित है। मन और बुद्धि वाले भाग का जितना उपयोग किया जाता है उतना ही चित्त, अहंकार का भी प्रयोग होने लगे तो मनुष्य दुनियाँदार बुद्धिमानों की तुलना में असंख्य गुनी विचारशीलता, प्रज्ञा, भूमा प्राप्त कर सकता है और मात्र समझदार न रहकर तत्व दृष्टा की स्थिति में पहुँच सकता है।

बिखराव को रोकने की, उपलब्ध शक्ति को संग्रहीत रखकर अभीष्ट प्रयोजन में प्रयुक्त कर सकने की कुशलता को आध्यात्मिक एकाग्रता कहते हैं। अध्यात्म शास्त्र में मनोनिग्रह अथवा चित्त निरोध इसी को कहते हैं। 'मेडीटेशन' की योग–प्रक्रिया में बहुत चर्चा होती है। इसे एकाग्र हो सकने की कुशलता भर ही समझना चाहिए। सुनने–समझने में यह सफलता नगण्य जैसी मालूम पड़ती है, पर वस्तुतः वह बहुत ही बड़ी बात है। इस प्रयोग में प्रवीण होने पर मनुष्य अपनी बिखरी चेतना को एकत्रित करके किसी एक कार्य में लगा देने पर जादू जैसी सफलतायें–उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

एक मोटा लोहा लेकर उसे किसी कड़ी वस्तु में धँसाया जाय तो उसमें भारी कठिनाई पड़ेगी, किन्तु यदि उसकी नोंक पतली कर दी जाय तो साधारण दबाव से ही वह गहराई तक धँसता चला जायगा। मोटे तार और सुई की पतली नोंक का अन्तर सहज ही देखा जा सकता है। तार को कपड़े या कागज की तह में ठूँसना कठिन पड़ेगा किन्तु पतली नोंक वाली सुई सरलतापूर्वक प्रवेश करती चली

जायगी । लकड़ी, पत्थर, लोहे जैसे कड़े पदार्थों में छेद करने के लिए नोंकदार बरमे ही काम देते हैं । नोंक की इस चमत्कारी शक्ति का इतना ही रहस्य है कि बड़ी परिधि की अपेक्षा छोटी परिधि में जब दबाव केन्द्रित होता है तो उसकी शक्ति सहज ही बढ़ जाती है ।

जमीन देखने में मिट्टी, धूलि की निरर्थक–सी वस्तु प्रतीत होती है, पर यह उसकी ऊपरी परत का ही मूल्यांकन है । उसे खोदने पर एक से एक बहुमूल्य वस्तुयें मिलती चली जाती है । थोड़ा खोदने पर पानी निकल आता है । उससे दैनिक उपयोग के सारे काम चलते हैं । पेड़–पौधों की सिंचाई तथा कल–कारखाने चलते हैं । इससे गहरे उतरने पर अनेक रासायनिक पदार्थ, धातुयें, रत्न, गैस, तेल जैसी बहुमूल्य वस्तुएँ हाथ लगती हैं । स्मरण रखा जाना चाहिए कि यह गहरी खुदाई नोंकदार बरमे ही कर सकते हैं । एकाग्रता से ही शक्तियों का एकीकरण कर सकते हैं । इससे अन्तःक्षेत्र में छिपी हुई विभूतियाँ और बाह्य क्षेत्र में फैली हुई सम्पत्तियाँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हो सकती हैं और सामान्य–सा जीवन असामान्य विशेषताओं और तज्जनित सफलताओं से भरा–पूरा दृष्टिगोचर हो सकता है । जिस प्रकार जमीन खोदने में एक से एक बढ़कर बहुमूल्य खनिज सम्पदायें निकलती हैं, उसी प्रकार एकाग्रता की शक्ति में व्यक्तित्व के साथ जुड़ी हुई गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टतायें और बल, बुद्धि, विद्या, मैत्री, कीर्ति, प्रतिभा जैसी विशेषतायें प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होती रह सकती हैं ।

एकाग्रता का एक चमत्कार मैस्मेरेजम–हिप्नोटिजम भी है । प्रयोगकर्त्ता अपनी दृष्टि को एक बिन्दु पर एकत्रित करने का अभ्यास करता है । अपनी इच्छा शक्ति को समेट कर लक्ष्य केन्द्र में समाविष्ट करता है । फलस्वरूप जादुई शक्ति उत्पन्न होती है और उससे दूसरों को सम्मोहित करके उन्हें इच्छानुवर्ती बनाया जा सकता है । उनमें मानसिक परिवर्तन लाये जा सकते हैं तथा प्रखरता के नये बीज बोये जा सकते हैं । प्राण–विद्या के द्वारा शारीरिक, मानसिक चिकित्सा के अनेक कठिन कार्य पूरे किये जाते हैं । यह सब एकाग्रता का ही चमत्कार है ।

ध्यानयोग का उद्देश्य मस्तिष्कीय बिखराव को रोककर उसे एक चिन्तन बिन्दु पर केन्द्रित कर सकने में प्रवीणता प्राप्त करना है। इस प्रयोग में जिसे जितनी सफलता मिलती जाती है, उसकी अन्तःचेतना में उसी अनुपात से वेधक प्रचण्डता उत्पन्न होती जाती है। शब्दवेधी वाण की तरह लक्ष्यवेध कर सकना उसके लिए सरल हो जाता है। यदि अध्यात्म उसका लक्ष्य होगा तो उसे क्षेत्र में आशाजनक प्रगति होगी और विभूतियों से, दिव्य ऋद्धि-सिद्धियों से उसका व्यक्तित्व भरा-पूरा दिखाई पड़ेगा। यदि लक्ष्य भौतिक उन्नति है तो भी इस एकाग्रता का समुचित लाभ मिलेगा और अभीष्ट प्रयोजनों में आशाजनक सफलता मिलती चली जायगी। शक्ति का जब, जिस भी दिशा में प्रयोग किया जायगा उसी में सत्परिणाम प्रस्तुत होते चले जायेंगे।

एकाग्रता मस्तिष्क में उत्पन्न होते रहने वाली विचार तरंगों के निरर्थक बिखराब को निग्रहीत करना है। छोटे से बरसाती नाले का पानी रोककर बाँध बना लिए जाते हैं और उसके पीछे सुविस्तृत जलाशय बन जाता है। इस जलराशि से नहरें निकालकर दूर-दूर तक क्षेत्र हरा-भरा बनाया जाता है। वही नाला जब उच्छृंखल रहता है तो किनारों को तोड़-फोड़कर इधर-उधर बहता है और उस बाढ़ से भारी बर्बादी होती है। मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाली विचारधारा को किसी विशालकाय विद्युत निर्माण कारखाने से कम नहीं आँका जाना चाहिए। बिजली घरों की शक्ति सीमित होती है और वे अपनी परिधि के छोटे से क्षेत्र को ही बिजली दे पाते हैं, पर मस्तिष्क के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। उसकी आज की क्षमता अगले दिनों अनेक गुनी हो सकती है और प्रभाव क्षेत्र, जो आज घर-परिवार तक सीमित है, वह कल विश्व-व्यापी बन सकता है। बिजलीघर के तार निर्धारित वोल्टेज की क्षमता धारण किये रहने के लिए बाध्य हैं, पर मस्तिष्क की प्रचण्ड सत्ता परिस्थिति के अनुसार इतनी अधिक क्षमता सम्पन्न हो सकती है कि क्षेत्र, समाज की सीमा को पार करते हुए अपने प्रभाव से समस्त संसार को प्रभावित कर सके और वातावरण को बदल देने में अति महत्वपूर्ण भूमिका निभा सके।

ध्यान की अद्भुत क्षमताओं के कारण उसका उपयोग ईश्वर प्राप्ति, जीवन लक्ष्य प्राप्ति जैसे महानतम उद्देश्यों के लिए भी किया जाता है । उपासना के साथ ध्यान को अविच्छिन्न रूप से जोड़ा जाता है । विभिन्न सम्प्रदायों तथा विधियों में उसके प्रकारों में थोड़ा बहुत अन्तर भले ही हो पर ध्यान का समावेश हर पद्धति में है अवश्य ।

उपासना क्षेत्र में ध्यान साकार और निराकार दो प्रकार के कहे गये हैं । एक में भगवान की अमुक मनुष्याकृति को मान कर चला जाता है, दूसरे में प्रकाश पुञ्ज की आस्था जमाई जाती है । तात्विक दृष्टि से यह दोनों ही साकार हैं । सूर्य जैसे बड़े और प्रकाश बिन्दु जैसे छोटे आकार का ध्यान रखना भी तो एक प्रकार का आकार ही है, अन्तर इतना ही तो हुआ कि उसकी मनुष्य जैसी आकृति नहीं है । ध्यान के लिए ईश्वर की, परम लक्ष्य की, आकृति बनना आवश्यक है । यों नादयोग, स्पर्शयोग, गन्धयोग को आकृति रहित कहा जाता है, पर ऐसा सोचना अनुपयुक्त है । नादयोग में शंख, घण्टा, घड़ियाल, वीणा आदि की ध्वनियाँ सुनी जाती हैं, पर अनचाहे ही वे वाद्य यंत्र कल्पना में आते रहते हैं, जिनसे वे ध्वनियाँ निःसृत होती हैं । इस प्रकार गन्ध ध्यान में मात्र गन्ध पर ही चिन्तन एकाग्र नहीं हो सकता, जिस पुष्प की वह गन्ध है, उसकी आकृति अनचाहे ही सामने आती रहेगी । ध्यान में आकृति से पीछा नहीं छूट सकता । मस्तिष्क की बनावट ही ऐसी है कि वह निराकार कहलाने वाले चिन्तन की भी आकृतियाँ बना कर ही आगे चलता है । वैज्ञानिक के गहरे चिन्तन को निराकार कहा जाता है, पर वस्तुतः वह भी जो सोचता है, उसमें कल्पना क्षेत्र की एक पूरी प्रयोगशाला सामने रहती है और प्रयोगात्मक हलचलें आँधी–तूफान की तरह अपना काम कर रही होती हैं । अन्तर इतना ही होता है कि वह स्थूल प्रयोगशाला के उपकरण छोड़कर वही सारा प्रयोग कृत्य काल्पनिक प्रयोगशाला में कर रहा होता है । ध्यान में आकृति से पीछा छुड़ाना सम्भव नहीं हो सकता । अस्तु किसी को साकार–निराकार के वितंडावाद में न पड़कर ध्यान धारणा के सहारे आत्म चिन्तन का प्रयोजन पूरा करना होगा ।

मानसिक ध्यान की सफलता के लिए मस्तिष्कीय विकास

सामान्य स्तर की अपेक्षा कुछ अधिक ऊँचा होना चाहिए । यदि उसे अध्ययन, चिन्तन, मनन आदि के द्वारा गहरा गोता मारने, कोमल सम्वेदनाओं को उभारने, किसी बात पर देर तक चिन्तन कर सकने योग्य विकसित न किया गया होगा तो समुचित ध्यान कर सकना सम्भव ही न हो सकेगा । अविकसित मानसिक स्तर के लोग इन्द्रिय सम्वेदना भर अनुभव करते हैं, वे कान या आँख की सहायता से देख या सुनकर कुछ सोच-समझ सकते हैं । कवियों, वैज्ञानिकों एवं दृष्टाओं जैसा सूक्ष्म चिन्तन उनके लिए सम्भव नहीं होता । अस्तु उन्हें उनकी स्थिति के अनुरूप दृश्य प्रतिमाओं के आधार पर परमात्मा की समीपता का उपासना-उद्देश्य पूरा कराना होता है ।

हर व्यक्ति नये क्षेत्र में प्रवेश करते समय बालक ही होता है, चाहे वह अन्य विषयों में कितना ही सुयोग्य क्यों न हो ? कोई अच्छा वकील अपने विषय का विशेषज्ञ हो सकता है, पर उसे नया शिल्प सीखते समय बाल कक्षा के छात्र की तरह ही आरम्भ करना होगा । उपासना जिनका विषय नहीं रहा, वे अन्य विषयों के विद्वान होते हुए भी इस क्षेत्र में नौसिखियों की तरह ही प्रवेश करते हैं । अस्तु उन्हें ध्यान प्रक्रिया का अभ्यास करने के लिए प्रतीक पूजा का आश्रय लेना सुविधाजनक ही रहता है । छतों पर सीमेण्ट, गिट्टी, लोहे का स्लैव डालने के लिए उसके नीचे 'सहारे' खड़े करने होते हैं । छत कड़ी हो जाने पर 'सहारे' निकाल दिये जाते हैं और फिर वह अपने आप खड़ी रहती है । इतना ही नहीं, अपने ऊपर वजन भी उठा लेती है, किन्तु आरम्भ में जबकि वह ढलाई गीली थी, तो बिना सहारे के काम नहीं चल सकता था । प्रतीक पूजा की आरंभिक अवस्था में आवश्यकता पड़ती ही है । निराकारवादी व्यक्ति रूप में न सही अन्य किसी प्रतीक को माध्यम बनाकर अपना काम चलाते हैं । नमाज पढ़ते समय कावा की तरफ मुँह किया जाता है । कावा का अर्थ ईश्वरीय शक्ति का विशेष प्रतिनिधित्व करने वाली इमारत है । दूसरे लोग सूर्य आदि की प्रकाश ज्योति को आधार बनाते हैं । कुण्डलिनी जागरण, चक्रवेधन आदि योगाभ्यासों में भी अमुक स्थानों को दिव्य शक्ति का केन्द्र मानकर वहाँ अपनी इच्छा शक्ति नियोजित करनी पड़ती है । यह भी ध्यान के

ही रूप हैं और इनमें आकृति का सहारा लेना होता है।

ध्यान में केवल रूप देखते रहना भर पर्याप्त नहीं उसमें गहरी तन्मयता पैदा करनी होती है। साकार उपासना में इष्ट देव के समीप—अति समीप होने और उनके साथ लिपट जाने—उच्चस्तरीय प्रेम के आदान—प्रदान की गहरी कल्पना करनी चाहिए। इसमें भगवान और जीव के बीच माता—पुत्र, पति—पत्नी, सखा—सहोदर, स्वामी—सेवक जैसा कोई भी सघन सम्बन्ध माना जा सकता है, इससे आत्मीयता को अधिकाधिक घनिष्ठ बनाने में सहायता मिलती है। लोक व्यवहार में स्वजनों के बीच आदान—प्रदान उपहार और उपचार की तरह चलते हैं। मन, वचन, कर्म से घनिष्ठता एवं प्रसन्नता व्यक्त की जाती है। भेंट उपहार में कई तरह की वस्तुयें दी जाती हैं। नवधा भक्ति में ऐसे ही आदान—प्रदान की वस्तु परक अथवा क्रिया परक कल्पना की गई है। वस्तुतः यहाँ प्रतीकों को माध्यम बना कर भावनात्मक आदान—प्रदान की गहराई में जाया जाना चाहिए। भक्त और भगवान के बीच सघन आत्मीयता की अनुभूति उत्पन्न करने वाला आदान—प्रदान चलना चाहिए। भक्त अपनी अहंता को क्रिया, विचारणा, भावना एवं सम्पत्ति को भगवान के चरणों पर अर्पित करते हुए सोचता है कि यह सारा वैभव उसी दिव्य सत्ता की धरोहर है। इसका उपयोग व्यक्तिगत वासना, तृष्णा के लिए नहीं ईश्वरीय प्रोजनों के लिए किया जाता है। वह स्वयं तो मात्र खजान्ची—स्टोर कीपर भर है।

ध्यान का एक मात्र उद्देश्य भगवान और भक्त के बीच एकात्म भाव की स्थापना करना है, मात्र किसी आकृति का ध्यान चित्र देखते भर रहने से काम नहीं चलता। भक्त अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को, क्रिया, विचारणा और भावना को ईश्वर अर्पण करके उसे मात्र दिव्य प्रयोजनों में नियोजित रखने का संकल्प सघन करता है। इसके साथ—साथ भौतिक धन सम्पत्ति तो अर्पित हो ही जाती है। समर्पण का तात्पर्य है—व्यक्तिगत—भौतिक महत्वाकांक्षाओं की समाप्ति और उसके स्थान पर ईश्वर इच्छा की, उच्च आदर्शों की अपने ऊपर नियन्त्रण करने वाली स्थापना। इसी मान्यता को अन्तःकरण में यथार्थवादी निष्ठा के साथ

स्थापित करने को आत्म–समर्पण कहते हैं । ध्यान के द्वारा इसी निष्ठा के परिपक्व किया जाता है ।

भक्त का समर्पण, बदले में भगवान का अनुग्रह आश्वासन । इसी के तरह–तरह के लौकिक स्वरूप चित्र कल्पित किये जा सकते हैं । साकार ध्यान में अपनी रुचि की कल्पनायें करते रहने और उस दृश्यावली में डूबे रहने की पूरी छूट है । ध्यान की एकाग्रता इसी सीमा तक है कि उसमें भक्त और भगवान के बीच होने वाले आदान–प्रदान की कल्पनायें ही चलनी चाहिए, भौतिक लाभ का प्रयोजन आड़े नहीं आना चाहिए । पूर्ण एकाग्रता जिन्हें शून्यावस्था, योगनिद्रा या समाधि कहते हैं, बहुत ऊँची स्थिति है । मन कहीं जाये ही नहीं एक ही बिन्दु पर केन्द्रित रहे, ऐसा हो सकने को ही तुरीयावस्था या समाधि कहते हैं । यह आरम्भिक साधना में लगभग असम्भव ही है, इसकी बात नहीं सोची जानी चाहिए । ध्यान साधना का व्यावहारिक रूप इतना ही है कि भक्त और भगवान के बीच उच्चस्तरीय आदान–प्रदान चलना चाहिए । भक्त अपनी समस्त आकांक्षाओं और सम्पदाओं को ईश्वर के लिए समर्पित करता है और इसके बदले में वह सब कुछ पाता है, जो ईश्वर स्वयं है । मनुष्य को स्पष्ट करने वाली ईश्वरीय सत्ता अपनी अनुभूति, आनन्द और उल्लास के रूप में छोड़ती है । भगवान से कुछ मिला या नहीं इसकी परख इस रूप में की जा सकती है कि उल्लास–आदर्शवादिता के प्रति उत्कण्ठा भरा उभार अन्तःकरण में उमंगना आरम्भ हुआ या नहीं । सद्भावना और सत्प्रवृत्ति अपनाने वाले को सहज ही मिलते रहने वाला आत्म–संतोष, आनन्द, अनुभव में आता है या नहीं ।

ईश्वर दर्शन के सम्बन्ध में यह भ्रान्त धारणा निरस्त की जानी चाहिए कि सपने में या जागृति में इष्टदेव की किसी आकृति की झांकी मिलती है अथवा प्रकाश आदि दीखने जैसा कोई चित्र–विचित्र दृश्य दिखाई पड़ता है । यदि ऐसा किसी को होता हो तो उसे झाड़ी का भूत, रस्सी का साँप दीखने की तरह अपने संकल्पों की मानसिक प्रतिक्रिया भर समझना चाहिए । जब चेतना की कोई

आकृति हो ही नहीं सकती तो फिर उसका निर्भ्रान्त दृश्य दिखाई ही कैसे दे सकता है ? इस तथ्य को हजार बार हृदयंगम कर लिया जाना चाहिए कि ईश्वर का जीवन में समावेश श्रेष्ठ वृत्तियों के रूप में होता है । आदर्शवादी आकांक्षायें प्राणप्रिय प्रतीत होने लगने और तदनुरूप गति–विधियाँ अपनाने पर मिलने वाले आनन्द–उल्लास की अनुभूति का स्तर ही ईश्वर प्राप्ति का एकमात्र प्रमाण है ।

निराकार ध्यान में प्रायः सर्वत्र सूर्य के प्रकाश को ही माध्यम बनाया जाता है । प्रभातकाल के उदीयमान सूर्य का सविता देवता के प्रतीक रूप में दर्शन, उसकी दिव्य किरणों का शरीर मन और अन्तरात्मा में प्रवेश, उस प्रवेश की सत्कर्म, सद्ज्ञान के रूप में प्रतिक्रिया । इसी परिधि में निराकार ध्यान धारणा परिभ्रमण करती है । यज्ञाग्नि रूपी ईश्वर में आहुति द्रव्य की तरह जीव सत्ता का समर्पण, नाले का गंगा में, बूँद का समुद्र में सम्पादन, दीप ज्योति का सूर्य ज्योति में विलय, अर्घ्य जल का भाप बनकर व्यापक क्षेत्र में विस्तार, पतंगे का दीपक को समर्पण जैसे कितने ही दृश्य–चित्र कल्पना क्षेत्र में बनाये जा सकते हैं और उनके सहारे एकात्म भाव की अनुभूति का आनन्द लिया जा सकता है ।

यहाँ यह तथ्य स्मरणीय है कि ध्यान में एकाग्रता का महत्व तो है किन्तु एकाग्रता ही ध्यान है, यह भ्रम मन से निकाल देना चाहिए । एकाग्रता का अभ्यास क्रमशः होता है और वह समय साध्य है । इसलिए उसमें उतावली बरतने की आतुरता प्रदर्शित करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं । निरन्तर जीवन लक्ष्य का ध्यान रखा जाय तो उस धारा प्रवाह को 'एक दिशा' कहा जाता है और उससे एकाग्रता का वास्तविक प्रयोजन पूरा हो सकता है ।

ध्यान धारणा में एक बिन्दु पर मन एकाग्र करने की बात बहुत आगे की है । पहले तो साकार ध्यान में साकार की ध्यान प्रतिमायें बनानी पड़ती हैं । निराकारवादी भी सूर्य आदि का कोई न कोई रूप बनाते हैं अथवा नादयोग में विभिन्न शब्दों को सुनते हैं । रूप या शब्द का ध्यान करने के माध्यम से एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है, पर विचारपूर्वक

देखा जाय तो प्रतीत होगा कि उस ध्यान प्रक्रिया में भी बिखराव ही बिखराब भरा पड़ा है । इष्टदेव की प्रतीक छवि में उनके अंग–प्रत्यंग, वस्त्र–आभूषण, आयुध, वाहन आदि का बड़ा आवरण रहता है और उस विस्तृत क्षेत्र में यहाँ से वहाँ उड़ते–फिरने की मन को पूरी छूट रहती है । इष्टदेव यदि शिव हैं, तो ध्यान करते समय साधक को छूट है कि वह उनके सिर पर टँगे चन्द्रमा को, गंगा के उद्भव को, लिपटे हुए सर्पों को, कटि प्रदेश में पहने व्याघ्र चर्म को, गले की मुण्डमाला को, नान्दी वाहन की छवि को देखे और उस सीमित ध्यान क्षेत्र में कहीं भी दौड़ लगाता रहे । फिर एकाग्रता कहाँ हुई ?

निराकारवादी प्रायः सूर्य किरणों का शरीर के रोम–रोम में प्रवेश करने का अथवा चित्र–विचित्र ध्वनियाँ सुनने का अभ्यास करते हैं । इसमें भी चिन्तन विस्तार का उतना ही क्षेत्र विद्यमान है, जितना साकारवादी मान्यताओं में । जब मन को इतनी दौड़–धूप करने और इतने भिन्न प्रकार के अनुभव करने की छूट रही तो वह एकाग्रता कैसे बनी ?

वस्तुतः जिसे हम एकाग्रता कहते हैं, वह सब चित्त की भाग–दौड़ को असीम से रोककर एक सीमित क्षेत्र में प्रतिबन्धित करना है । मन बार–बार भागता है और उसे पकड़–पकड़ कर बार–बार निश्चित ध्यान परिधि में लाया जाता है । यही प्रयोग चलता रहता है । पूर्ण एकाग्रता समाधि अवस्था है और वह पूर्णता पर जा पहुँचने पर ही मिलती है । उसके लिए किसी को भी अधीर नहीं होना चाहिए ।

हजार बार इस तथ्य को समझ लेना चाहिए कि पूर्ण एकाग्रता साधना काल की आरम्भिक प्रक्रिया या आवश्यकता किसी भी दृष्टि से नहीं है । उसके लिए न तो लालायित होना चाहिए न खिन्न । प्रयत्न करते रहना भर पर्याप्त है । मीरा, सूर, चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस आदि भक्तजनों की भाव स्थिति का सूक्ष्म अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वे एकाग्रता नहीं तन्मयता प्राप्त कर सके और उसी में उनका लक्ष्य मिल गया । भक्त सम्प्रदाय में प्रणय, वियोग, अश्रुपात, समर्पण, आलिंगन जैसे भावोन्मादों की घटायें ही उमड़ती रहती हैं । उस मनःस्थिति में एकाग्रता किसी भी प्रकार संभव नहीं ।

यदि एकाग्रता ही सर्वोपरि रही होती तो भक्तजनों पर हर घड़ी छाया रहने वाला भावोन्माद तथा उसके उभार में उठने वाले हास्य, रोदन, नृत्य, अवसाद आदि की उद्विग्नता लक्ष्य प्राप्ति में बहुत बड़ी बाधा बन गई होती, पर ऐसा हुआ नहीं है ।

यहाँ एकाग्रता का महत्व घटाया नहीं जा रहा है और न उसे त्याज्य या उपेक्षणीय कहा जा रहा है । एकाग्रता की उपयोगिता में किसी को संदेह नहीं होना चाहिए, इतने पर भी सर्वसाधारण के मन में जमी हुई इस भ्रान्ति का निराकरण होना ही चाहिए कि–'भजन में मन लगाना अर्थात् चित्त का एकाग्र होना आवश्यक है, वह है तो भजन की सफलता, नहीं है तो असफलता', इस चिन्तन को हटाकर यों सोचना चाहिए कि 'चित्त निरोध नहीं 'चित्तवृत्तियों का निरोध' आवश्यक है । एकाग्रता नहीं 'एक दिशा' अभीष्ट है । यदि ऐसा बन पड़े तो समझना चाहिए कि ध्यान साधना की सही पृष्ठभूमि बन चली ।

समूची ब्रह्म सत्ता को समझा जा सकना मनुष्य की छोटी बुद्धि के लिए असम्भव है । ब्रह्माण्ड बहुत बड़ा है, उसका विस्तार हमारी कल्पना शक्ति से बाहर है । अपनी पृथ्वी पर प्रकृति की जो कार्य पद्धति है, अन्य लोकों में उससे भिन्न है । पृथ्वी के प्राणधारियों की आकृति–प्रकृति चिन्तन एवं जीवन यापन पद्धति में आकाश–पाताल जैसा अन्तर है । फिर अन्य लोकवासी चैतन्य प्राणियों की रीति–नीति के बारे में तो कहा ही क्या जा सकता है ? समूचा ब्रह्म न तो हमारी समझ में ही आ सकता है और न उसे समझने की आवश्यकता है । मानवी चेतना के साथ ब्रह्म चेनता का जितना अंश सम्बन्धित है उस भाग को ईश्वर या परमेश्वर कहते हैं । हमारे आनन्द एवं उत्थान में उसी की भूमिका रहती है । अस्तु साधना के लिए उसी छोटी ब्रह्म परिधि के साथ हमारा सम्पर्क मिला लेना पर्याप्त माना गया है । उपासना का केन्द्र बिन्दु यह ईश्वर ही रहता है ।

आवश्यकतानुसार विशेष सूक्ष्म शक्ति उपार्जन करने के लिए अमुक देवी–देवताओं की उपासना की खण्ड साधना भी की जा सकती है, पर अपना अनुभव और परामर्श यह है कि समग्र ब्रह्म की

साधना ही सर्वोत्तम है । आहार वही आदर्श माना जाता है जिसमें पोषण के सभी तत्व मोजूद हों । प्रोटीन कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो, अकेले उसी को खाना लाभदायक न रहेगा । अमुक देवता की उपासना अकेली प्रोटीन, अकेली कैल्शियम खाने की तरह है । आवश्यकता पड़ जाने पर चिकित्सा उपचार की तरह कोई विशेष तत्व अमुक मात्रा में लिया जाता है, इसी प्रकार विशेष प्रयोजन के लिए कोई देव-साधना उपयोगी हो सकती है, पर सर्वतोमुखी प्रगति के लिए, सर्वकालिक साधना समग्र ब्रह्म की ही होनी चाहिए ।

कई तरह के देवी-देवताओं की, कई प्रकार की आकृतियों का संग्रह करने में ध्यान बँटता है और निष्ठा विकेन्द्रित होती है । पूजा-स्थली एवं ध्यान प्रक्रिया में चित्र-विचित्र साज-सज्जा इकट्ठी इसलिए की जाती है कि कई देवता कई तरह के वरदान देंगे और सभी से थोड़ा-थोड़ा सम्बन्ध बना रहने से पंचमेल स्वाद मिलेगा और भी कई तरह के लाभ होंगे । पर यह मान्यता उपासना के क्षेत्र में उल्टी बैठती है । ध्यान और निष्ठा को केन्द्रित रखना उपासना का महत्वपूर्ण आधार है । उसे बिखेरना नहीं चाहिए । हमने एक ही रूप को पर्याप्त माना है और परामर्श मानने वालों को अपनी ही भाँति एक ही ध्यान के लिए अनुरोध किया है । सविता देवता के रूप में परब्रह्म की उपासना सर्वोत्तम है । 'प्रकाश' की साधना साकार ओर निराकारवादी दोनों ही पक्षों के लिए समाधान कारक है । सभी धर्म सम्प्रदायों ने किसी न किसी रूप में प्रकाश ध्यान की महत्ता स्वीकार की है । हर साधक उसे अपने इष्टदेव का चेतनात्मक रूप मान सकता है । इसलिए उसे सार्वभौम भी कह सकते हैं । गायत्री मंत्र का देवता सविता है । छवि स्थूल, विचारणा सूक्ष्म, भावना कारण इन तीनों का समन्वय करते हुए अपना उपास्य सद्ज्ञान रूपी सूर्य हो, उसकी किरणों में गायत्री मन्त्र की सदाशयता और अन्तराल में अनन्य प्रेम से ओत-प्रोत मातृ सत्ता की झाँकी की जा सकती है । इस ध्यान में तीनों शरीरों की आवश्यकता पूरी कर सकने जैसे सभी तथ्य विद्यमान हैं । साकार, निराकार का भी इसमें समन्वय है । उच्चस्तरीय

उपासना के लिए यही ध्यान प्रतिमा सर्वोत्तम समझी गई है ।

ईश्वर सत्–चित्–आनन्द रूप है । सत् और चित् का भाव प्रकाश और अपने परम हितैषी के रूप में उसका ध्यान करने से आता है । आनन्द रूप में उसकी [illegible] अनुभूति के लिए प्रकाश की अपेक्षा रसरूप में उसका ध्यान अधिक उपयोगी सिद्ध होता है । खेचरी मुद्रा द्वारा भगवान का ध्यान रसरूप में किया जाता है । शास्त्र वचन है 'रसोवै सः' । हमारे जीवन में अतृप्ति, भटकाव, शुष्कता, इसीलिए है कि हम ईश्वर को रस रूप, आनन्द रूप में अनुभव नहीं कर पाते ।

खेचरी मुद्रा में जीभ तालू से लगाकर भगवान को रस प्रवाह के रूप में अवतरित किया जाता है । हमारा मस्तिष्क शिव का कैलाश है, विष्णु का क्षीरसागर है, ब्रह्मा का सहस्त्रदल कमल, सहस्रार चक्र भी यही है । विश्वव्यापी सूक्ष्म चेतना से हमारा यही केन्द्र बनता है । अस्तु रस रूप में, आनन्द रू प में ईश्वरीय चेतना के प्रवाह की अनुभूति भी इसी केन्द्र से हो सकती है । उपसना में जप और ध्यान के अतिरिक्त खेचरी मुद्रा का भी समावेश इसी दृष्टि से किए जाने का निर्देश दिया गया है ।

प्रकाश का–इष्टदेव की शक्ति से अपने रोम–रोम के प्रभावित होने का ध्यान जप के साथ भी चल सकता है तथा स्वतंत्र रूप से भी इसे किया जा सकता है । खेचरी मुद्रा में जीभ की विशिष्ट स्थिति रखी जाने से जप नहीं चल सकता इसलिए यह ध्यान अलग से ही करना पड़ता है ।

ध्यान का सही स्वरूप हम समझें तथा उसका उपयोग ठीक ढंग से कर सकें तो हमारी लौकिक और पारलौकिक प्रगति के अनेक व्यवधान दूर हो सकते हैं । इसका महत्व समझते हुए अपने जीवन में इसका नियमित और संतुलित क्रम बिठाया जाना हर दृष्टि से कल्याणकारी है ।

◉

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा